समकालीन हिन्दी काव्य

(Contemporary Hindi Poetry)

सूरज कुमार

समकालीन हिन्दी काव्य

समकालीन हिन्दी काव्य

(Contemporary Hindi Poetry)

सूरज कुमार

भाषा प्रकाशन

नई दिल्ली - 110002

© प्रकाशक

I.S.B.N. : 978-81-323-5587-8

प्रथम संस्करण : 2021

भाषा प्रकाशन

22, प्रकाशदीप बिल्डिंग, अंसारी रोड,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

द्वारा वर्ल्ड टेक्नोलॉजीज नई दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित

प्रस्तावना

समकालीन हिंदी कविता का प्रस्थान बिंदु अस्सी के आस-पास माना जाता है। इस समय हिंदी कविता अपनी पूर्ववर्ती कविता से विभिन्न स्तरों और स्वयं को अलगा रही थी। अलहदा होने का लक्षण कविता में साफ-साफ दिख रहा था। कवियों ने इसे कविता की मुख्यधारा में वापसी कहा। यह अलहदापन संवेदना, भाव, विचार, दर्शन एवं भाषा के स्तर और झलक रहा था, क्योंकि पूर्व की कविता में विद्रोह, हर चीज का निषेध एवं मोहभंग का गुस्सा था, कवियों के समक्ष कोई बड़ा लक्ष्य नहीं दिखायी पड़ रहा था।

दिशाहीनता के शिकार ये कवि कविता को प्रभावी बनाने के लिये गोला, बारूद, बंदूक, क्रांति, गुरिल्ला युद्ध जैसे शब्दों को ठूंस रहे थे। कविता छद्म भावों एवं कृत्रिम शब्दों के चारों ओर चक्कर काट रही थी, लेकिन अस्सी के दशक तक आते-आते स्थिति में परिवर्तन आया। कविता वस्तुस्थिति से साक्षात्कार करती दिखाई पड़ती है।

समकालीन हिंदी कविता के इसी परिदृश्य में कई नयी प्रतिभाएँ नयी सोच, विचार, भाव एवं भाषा एवं कविता के साथ उभरी थीं। इनमें तो कई कवियों को आलोचना में जगह मिली, उनके काव्य का मूल्यांकन हुआ, वे प्रतिष्ठित हुए और कई पूर्व से लिख रहे थे और प्रतिष्ठित थे। इसलिए इस काल की कविता में एक साथ कई पीढ़ियों के कवि लिखते दिखाई पड़ते हैं। फिर भी अस्सी के दशक में एक पीढ़ी राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल,

ज्ञानेंद्रपति, वीरेन डंगवाल, विनोद कुमार शुक्ल आदि की थी। उनकी कविताओं की ओर आलोचकों की दृष्टि गयी। उनकी पहचान बनी है, लेकिन कई ऐसे और भी कवि लिख रहे थे, जिनकी कविताएँ अपने समकालीनों में किसी भी स्तर पर कमजोर नहीं हैं। क्या भाव, क्या भाषा एवं क्या संवेदना उनकी सृजनात्मकता आज भी पूर्ववत जारी है। फिर क्यों नहीं आलोचकों का ध्यान इन कवियों की ओर गया? दरअसल, हिंदी आलोचना की परंपरा की तरह विस्मृति की भी एक परंपरा साहित्य में चलती आ रही है।

आलोचक ऐसा करने के लिये ज्ञानमार्ग अपनाता है। यह ज्ञानमार्ग है अपनी पसंद एवं प्रिय-कवियों का चयन करना और उनकी कृतियों को आलोचना के योग्य समझना। अन्य कवियों की ओर से दृष्टि फेर लेना। यही हुआ है इस कालखंड में लिखने वाले दृष्टिसंपन्न, संवेदनशील एवं परिपक्व कवि भारत यायावर, शंभु बादल, अनिल जनविजय, स्वप्निल श्रीवास्तव, सुधीर सक्सेना, नरेंद्र पुंडरीक एवं राजा खुगसाल के अलावा अन्य कवियों के साथ।

पुस्तक लेखन में कई लिखित व अलिखित स्रोतों से मदद ली गई है; मैं उन सभी विज्ञ लेखकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता हूँ। आशा करता हूँ कि पुस्तक पाठकों के लिए उपयोगी होगी।

–लेखक

अनुक्रम

	प्रस्तावना	*v*
1.	**समकालीन हिंदी कविता**	**1**
2.	**काव्य**	**27**
	परिचय	28
	काव्य का प्रयोजन	29
	काव्य परिभाषा	30
	काव्य के भेद	30
	काव्य का इतिहास	32
	महाकाव्य	33
	महाकाव्य की विशेषताएँ	34
	महाकाव्य के लक्षण	35
	कथानक	35
	कुमारसम्भव	36
3.	**हिन्दी का समकालीन साहित्यिक परिदृश्य**	**40**
4.	**समकालीन कविता का आत्म-संघर्ष**	**50**
	नाइन्टीज अनेकान्त काल	51
5.	**समकालीन कविता: एक विमर्श**	**61**
6.	**समकालीन हिंदी कवियों का सामाजिक बोध**	**78**

7. हिंदी कविता का समकालीन परिदृश्य **91**
8. समकालीन हिंदी काव्य की प्रासंगिकता **123**
9. समकालीन-कवि **127**
जीवन परिचय 127
आरंभिक जीवन 128
शिक्षा 128
साहित्यिक जीवन 129
ग्रंथानुक्रमणिका 129
जीवन परिचय 140
जीवन परिचय 141
मुख्य कृतियाँ 142
10. श्रीकांत वर्मा **143**
प्रमुख रचनाएँ 144

1

समकालीन हिंदी कविता

समकालीन हिंदी कविता का प्रस्थान बिंदु अस्सी के आस-पास माना जाता है। इस समय हिंदी कविता अपनी पूर्ववर्ती कविता से विभिन्न स्तरों और स्वयं को अलगा रही थी। अलहदा होने का लक्षण कविता में साफ-साफ दिख रहा था। कवियों ने इसे कविता की मुख्यधारा में वापसी कहा। यह अलहदापन संवेदना, भाव, विचार, दर्शन एवं भाषा के स्तर और झलक रहा था। क्योंकि पूर्व की कविता में विद्रोह, हर चीज का निषेध एवं मोहभंग का गुस्सा था, कवियों के समक्ष कोई बड़ा लक्ष्य नहीं दिखायी पड़ रहा था। दिशाहीनता के शिकार ये कवि कविता को प्रभावी बनाने के लिये गोला, बारूद, बंदूक, क्रांति, गुरिल्ला युद्ध जैसे शब्दों को ठूंस रहे थे। कविता छद्म भावों एवं कृत्रिम शब्दों के चारों ओर चक्कर काट रही थी, लेकिन अस्सी के दशक तक आते आते स्थिति में परिवर्तन आया। कविता वस्तुस्थिति से साक्षात्कार करती दिखाई पड़ती है।

समकालीन हिंदी कविता सकारात्मक मानव मूल्यों के साथ ही मुनष्य को समग्रता में आत्मसात कर चलती है। मनुष्य को तोड़ने वाली हिंसा और उसके विकास की दिशा को रोकने वाली साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ सृजनात्मक मूल्यों को प्रश्रय देती है। इसमें सकारात्मक हस्तक्षेप का भी स्वर है। इस कविता की मूल शक्ति है-मानवीय संवेदना, करुणा, दया, अहिंसा, मानवाधिकार के तत्त्व, लोकतांत्रिक जीवन मूल्य। कवि सामान्य लोगों की बौद्धिक कमजोरी को दूर कर समाज में समता, बंधुत्व एवं न्याय की स्थापना के लिये संघर्ष करने को

प्रेरित करता है। उसके ज्ञान क्षितिज का विस्तार करता है। रूढ़िवादिता, अंधविश्वास, अज्ञानता को मिटा कर, वैज्ञानिक चेतना जगा कर उसे स्वविवेक से सत्य और असत्य के निर्णय करने के योग्य बनाता है। उसे संवेदनशील बना कर इंसानियत की रक्षा के लिए सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक स्तर और तैयार करता है। उसे अपनी सुविधाओं एवं खुशियों को हासिल करने के लिये गुरिल्ला युद्ध करने, उसके हाथों में हथियार नहीं थमाना चाहता है। आज का कवि जानता है कि हिंसा से मानव समुदाय का अहित होगा। आने वाली पीढ़ियों के लिये यह धरती शांति, प्रेम एवं भाईचारे को खो देगी। विषमतामूलक समाज को मिटा कर मानवीय समानता के आधार और देश-दुनिया का निर्माण समकालीन कविता का लक्ष्य है। हिंसा, खून खराबा को प्रश्रय न देकर कवि मनुष्य को मनुष्य से जोड़ने वाले तत्त्व प्रेम, करुणा, दया, अहिंसा, सत्य, आत्मीयता, सहानुभूति, सहयोग जैसे महान मानव मूल्यों को संपोषित करता है। जीवन को सकारात्मक दिशा की ओर बढ़ने में मदद करने वाली प्राकृतिक उपादानों को भी आज की कविता अहम मानती है। इसके लिये लाल आतंक और घातक हथियारों की जगह कविता में- धरती, आकाश, बादल, बारिश, पेड़, पौधों, फूल, चिड़ियां, नदी, पहाड़, जंगल, सुबह, शाम, दोपहर, वसंत, सर्दी जैसे प्राकृतिक रूपों को विशेष स्थान दिया गया है। वहीं साधारण आदमी की इच्छा, प्रेम, विचार, भाव, सहयोग, संघर्ष, खून-पसीना और बदलते सामाजिक मूल्यों का चित्रण भी है। घर, परिवार, पत्नी, मां, बाप, बच्चे, मित्र, टोला, पड़ोस, खेत-खलिहान, श्रम एवं फसलें मिल कर आज की कविता को पूर्व की अपेक्षा जनसरोकारों से जोड़ता है। वह जीवन के यथार्थ का मानो भोक्ता हो गयी है। वायवीय भावों, विचारों एवं कल्पनाओं के लिये यहाँ बिल्कुल जगह नहीं है। आज की कविता अनंत संभावनाओं से युक्त तेजी के साथ जीवन के अनछुए पहलुओं को रच रही है। इसमें आतंक और चीख-पुकार या शोर-शराबा नहीं है। यही कारण है कि समकालीन कवियों की कविताएँ नारेबाजी एवं बड़बोलेपन का शिकार नहीं हैं। व्यक्ति, समाज, देश एवं दुनिया के अनुभव, चिंतन एवं लोगों के संघर्ष को स्वाभाविक तरीके से सहज एवं सरल भाषा में व्यक्त किया जा रहा है।

एक मायने में समकालीन हिंदी कविता पूर्व की कविता का सहज एवं स्वाभाविक विकास है। इसी समय कई युवा कवि अपनी उर्वर प्रतिभा के साथ उभर कर आए। कहना न होगा, इन कवियों के पास स्पष्ट दृष्टिकोण एवं नयी

दिशा थी। यही करण है कि इनकी कविताओं में उलझे हुए न तो बिंब मिलते हैं और न भावबोध के स्तर और कोई क्लिष्टता। कवि जो बात कहना चाहता है उसके प्रति उसकी मंशा बिल्कुल साफ है। अपनी विचारधारा को प्रगतिवादियों एवं प्रयोगवादियों की तरह पाठकों पर थोपता नहीं हैं। इन कवियों में सबसे बड़ी विशेषता जो नजर आती है वह है विनम्रता। उनकी आत्मीयता समाज के दबे, कुचले, वंचित, शोषित, मनुष्य के प्रति है। वहीं स्त्री, बालक, युवा, वृद्ध की तकलीफों, उसके सपनों एवं उनकी स्थितियों में परिवर्तन की आशा भी है। दलित, मजदूर, किसान, स्त्री, छात्र, शिक्षक, पत्रकार, नेता, उद्योगपति, आदिवासी समाज, हर किसी के इतिहास और वर्तमान हालात का कवि आकलन करना चाहता है। अपने परिवेश, संस्कृति, देश एवं भाषा के प्रति में उत्कट प्रेम दिखायी पड़ता है। यहाँ निषेधवादियों की तरह पूरी तरह सब चीजों का नकार नहीं है। क्योंकि जीवन में सबकुछ बुरा हीं नहीं होता। उसमें नवसृजन के बीज हमेशा आत्मा की तरह सुरक्षित रहते हैं। कवि अपने परिवेश एवं परंपरा में उस सृजनात्मक बीज की तलाश करता है, और अवसर आते ही पूरी संवेदना के साथ कविता में चुपचाप अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। बदलाव की दिशा तय होने लगती है। हाँ, एक बात मैं समकालीन कविता के बारे में जरूर कहना चाहता हूँ वह यह कि आज की कविता आंदोलनविहीन दौर की कविता है। सारा दायित्व कवियों एवं आलोचकों पर आ गया है, क्योंकि इसके पूर्व हिंदी कविता के समक्ष इतनी बड़ी चुनौती नहीं आयी थी, जबकि आज उसके सामने अपने अस्तित्त्व की रक्षा की चिंता प्रश्न है, क्योंकि दुनिया में नये-नये विचार एवं चिंतन का जो विस्फोट हो रहा है। इससे कवि दिग्भ्रमित-सा इधर-उधर की सोच रहा है। वहीं आज इस तेजी से बदलते वैश्विक जीवन के साथ कविता के परिदृश्य को समझने की जरूरत है। मानवता को बचाने का संघर्ष कवि को ही करना है।

समकालीन हिंदी कविता के इसी परिदृश्य में कई नयी प्रतिभाएँ नयी सोच, विचार, भाव एवं भाषा एवं कविता के साथ उभरी थीं। इनमें तो कई कवियों को आलोचना में जगह मिली। उनके काव्य का मूल्यांकन हुआ। वे प्रतिष्ठित हुए। और कई पूर्व से लिख रहे थे और प्रतिष्ठित थे। इसलिए इस काल की कविता में एक साथ कई पीढ़ियों के कवि लिखते दिखाई पड़ते हैं। फिर भी अस्सी के दशक में एक पीढ़ी राजेश जोशी, अरुण कमल, मंगलेश डबराल, ज्ञानेंद्रपति, वीरेन डंगवाल, विनोद कुमार शुक्ल आदि की थी। उनकी कविताओं

की ओर आलोचकों की दृष्टि गयी। उनकी पहचान बनी है, लेकिन कई ऐसे और भी कवि लिख रहे थे, जिनकी कविताएँ अपने समकालीनों में किसी भी स्तर पर कमजोर नहीं हैं। क्या भाव, क्या भाषा एवं क्या संवेदना के स्तर पर। उनकी सृजनात्मकता आज भी पूर्ववत जारी है। फिर क्यों नहीं आलोचकों का ध्यान इन कवियों की ओर गया। दरअसल, हिंदी आलोचना की परंपरा की तरह विस्मृति की भी एक परंपरा साहित्य में चलती आ रही है। आलोचक ऐसा करने के लिये ज्ञानमार्ग अपनाता है। यह ज्ञानमार्ग है अपनी पंसद एवं प्रिय-कवियों का चयन करना और उनकी कृतियों को आलोचना के योग्य समझना। अन्य कवियों की ओर से दृष्टि फेर लेना। यही हुआ है इस कालखंड में लिखने वाले दृष्टिसंपन्न, संवेदनशील एवं परिपक्व कवि भारत यायावर, शंभु बादल, अनिल जनविजय, स्वप्निल श्रीवास्तव, सुधीर सक्सेना, नरेंद्र पुंडरीक एवं राजा खुगसाल के अलावा अन्य कवियों के साथ। यहाँ हम अपने लेख को इन्ही कवियों की कविताओं तक सीमित रखेंगे।

भारत यायावर (1954) बहुआयामी व्यक्तित्त्व के कवि हैं। समकालीन कविता के प्रमुख हस्ताक्षरों में से एक हैं। 1980 में इनकी एक लंबी कविता 'झेलते हुए' प्रकाशित हुई। इसमें कवि अपने अस्तित्त्व की तलाश करता दिखायी देता है। बाहरी और भीतरी अंर्तद्वंद्व के साथ कवि व्यक्ति, जीवन, समाज एवं देश की व्यवस्था से जूझता नजर आता है। वह अपने चारों ओर के फैले विराट परिवेश में जीवन-संसार और इसमें रहने वाले लोगों के बीच अजनबी-सा पाता है। उसे चिर-परिचित लोग ही उनको प्रेत की तरह देखते हैं, लेकिन कवि के हृदय में उनके प्रति अपार प्रेम है। वह अपनी संघर्ष धर्मी चेतना का वाहक मामूली आदमी को मानता है। वह प्रारंभिक दौर में अपने अस्तित्त्व की चिंता के साथ ही अपनी कविता के पक्ष को स्पष्ट भी करता है। वह इस लंबी कविता में दार्शनिक अंदाज में चीजों पर विचार करता है। भारत यायावर का मुकम्मल प्रथम काव्य संग्रह 1983 में 'मैं हूँ यहाँ हूँ' प्रकाशित हुआ। देश में इसकी खूब चर्चा हुई, लेकिन आलोचकों ने इसका उदारतापूर्वक मूल्यांकन नहीं किया। बड़े सूक्ष्म तरीके से कवि को खारिज करने की कोशिश की गयी। यही पूर्वाग्रह एवं दुराग्रह दृष्टि इनकी पीढ़ी के अन्य रचनाकारों के साथ अपनायी गयी। इसी तरह 1990 में 'बेचैनी', 2004 में 'हाल बेहाल' एवं 2015 में युवा कवि गणेश चंद्र राही द्वारा संपादित 'तुम धरती का नमक हो' कविता संग्रह प्रकाशित हुआ है। इन कविताओं में ग्रामीण संवेदना, मामूली आदमी के जीवन, उनके सुख-दुख,

संघर्ष, अर्द्धनिद्रा से जागता हुआ समाज है, इतिहास के गोरखधंधों में फंसे लोग हैं, पिता की बदहाली, माता का स्नेह, बहन का दुलार, इंसानियत को बचाने की चिंता, व्यक्ति के संपन्न होने पर उनके भीतर से खत्म होती कोमलता और उसकी जगह विध्वंसक सोच का जन्म, इंसान को बेहतर बनाने वाले सपने और विषमता से भरे समाज को बदलने की बेचैनी है। एक रोटी का प्रश्न किस प्रकार पूरी व्यवस्था के लिये चुनौती बन जाता है, और जब इस प्रश्न के समाधान के लिये लोग आवाज उठाते हैं तो यह पूरी व्यवस्था राक्षस की तरह उसके खिलाफ किस तरह खड़ी हो जाती है, उसकी सारी सुविधाओं को लीलने के लिए तैयार हो जाती है, इस कठोर सच्चाई की अभिव्यक्ति हुई है। यहाँ साम्राज्यवाद का अदृश्य पंजा किस प्रकार भारत की जनता को अपनी गिरफ्त में लेने के लिए बढ़ रहा है और अमेरिका के नेतृत्व में दुनिया के विकासशील देश किस तरह उसकी विकास की नीतियों में भ्रमित होते हैं, भारत यायावर की कविताओं से जाना जा सकता है।

कवि ने 'मैं हूँ यहाँ हूँ' कविता में वह किसके साथ है, अपनी पक्षधरता को स्पष्ट किया है। वह यह बताना चाहता है कि उसके सरोकार क्या हैं और किन लोगों के पक्ष में खड़ा है। यह कविता घोषित करती है कि कवि संघर्षधर्मी चेतना के साथ खड़ा होना चाहता है। वह इसके लिये सुविधाओं को त्याग करेगा। उसे अनुभव एवं यथार्थ ज्ञान पाने के लिये धूल में, धूप में मीलों मील चलना स्वीकार है, लेकिन वह किसी की विचारधारा का पिछलग्गू बन कर नहीं चलेगा–

मैं नहीं चाहता एक सिंहासन
एक सोने का हिरण
मैं नहीं चाहता एक बांसुरी
एक वृंदावन
मैं चाहता हूँ भटकना मीलों–मीलों
धूल में रेत में धूप में ठंड में
चाहता हूँ जीना
संघर्ष में, प्यास में, आग में
मैं हूँ यहाँ हूँ, यहीं रहूँगा।

यहाँ कवि का उद्देश्य बिल्कुल स्पष्ट है। कवि मिथकों और प्रतीकों में जीना नहीं चाहता है। उसके लिये जीवन का नंगा यथार्थ ही स्वीकार है।

भारत यायावर की कविताएँ पाठकों को आतंकित नहीं करती हैं। इनकी कविताएँ आत्मीयता, सहयोग एवं प्रेम की कविताएँ हैं। ये पाठकों को समझदारी भरी अंर्तदृष्टि देती हैं। नारेबाजी और बड़बोलेपन से मुक्त करती हैं। कवि की 'सपने देखती आंखें' एक गंभीर कविता है। आज व्यक्ति सकारात्मक एवं बंधन मुक्त जीवन चाहता है। विध्वंसक एवं अराजक स्थिति से बाहर निकलना चाहता है, और समकालीन कविता का यह मुख्य स्वर भी है। अपनापन, भाईचारा, मैत्री और सहज भावबोध इनकी कविता का मानवीय पक्ष है। 'सपने देखती आंखें' में कवि कहता है-

सपने देखना चाहिये
सपने जो हमें सही-सही सरोकारों से जोड़ते हैं
सपने आंखों की तरह ही कीमती है।''

यहाँ कवि सपने को बंधन से मुक्ति के लिये शक्ति के रूप में देखता है-

सपनों में आंखें डूबी हैं
क्या अच्छा है
मुक्ति का बल इस बंधन से बंधा हुआ है
दुनिया से अपनापन इससे सजा हुआ है।''

कवि जीवन की सहजता में, उसके संघर्ष और जिजीविषा में, सादगी और बेहतर भविष्य के स्वप्न में सौंदर्य को देखता है। अपने परिवेश के प्रति इतने संवदेनशील हैं कि वह कविता में हर छोटी-छोटी घटना, विचार और सोच को दर्ज करना चाहता है। कविता में जिस प्रकार जीवन के यथार्थ एवं मार्मिकता का सूक्ष्म चित्रण हुआ है, उसी प्रकार स्मृतियों का इसमें विराट संसार भी है। आज का कवि स्मृतियों के माध्यम से संपूर्ण मानवीय संबंधों- प्रेम, मधुरता, आत्मीयता, करुणा को बचाना चाहता है। यह लोक जीवन एवं संस्कृति का अभिन्न अंग है। कवि इस भावबोध को 'नहीं छूटता घर' कविता में इस प्रकार व्यक्त किया है-

घर का एक इतिहास है
जर्जर और धूल खाया इतिहास!
जिसके पन्नों पर अब भी मेरे जीवन की
कितनी कठिनाइयों से भरी
कहानियां लिखी हैं!

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत यायावर का रचना-संसार जीवन के बहुविध चित्रों से संपन्न है। उसमें जीवन का अंर्तद्वंद्व है। युगीन परिस्थितियों का सहज अंकन है। साधारण मनुष्य के प्रति गहरा अनुराग है। विकृत सभ्यता एवं संस्कृति की आलोचना है। एक आदिम अंधेरा है जो पूरी मानवजाति का सदियों से पीछा करता आ रहा है। कवि उससे मानव को मुक्ति दिलाना चाहता है। क्योंकि अज्ञानता के कारण लोग अपनी जीवन स्थितियों को न तो समझ पाते हैं और न इसे बदलने के लिये खड़े हो पाते हैं। भारत यायावर की कविता आम आदमी में एक बौद्धिक समझदारी पैदा करती है, उसे उग्र नहीं बनाती, बल्कि आत्मीयता एवं संवेदनशील होकर समस्याओं का निदान का मार्ग दिखाती है। उनकी कविता में चंदर का, चंदा केसरवानी के लिये, बीनू, दोस्त, किस्सा लंगड़ू पांडे का, इदरीश मियां जैसे चरित्र लोक जीवन के मूल्यों के प्रतीक हैं। ये चरित्र संवेदनाओं से भरे हैं। कविता में आने के बाद ये व्यक्ति नहीं रह जाते हैं, बल्कि समाज के प्रेरित करने वाले भाईचारे एवं मानवता के प्रेरक बन जाते हैं। इनकी समग्र कविताओं का विवेचन आज जरूरी है, क्योंकि आज इनकी कविताओं की प्रासंगिता बढ़ गयी है।

शंभु बादल 1945 समकालीन हिंदी कविता के प्रमुख कवि हैं। लगभग चार दशकों से कविता लिख रहे हैं। किसी परिचय के मोहताज नहीं है। इनकी कविता ही पाठकों को अपना परिचय देती हैं। हाँ, इनके व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व पर बहुत कम लिखा गया है, जो चिंता का विषय भी है। इनकी पहली लंबी कविता 'पैदल चलने वाले पूछते हैं' 1986 में प्रकाशित हुई। इसमें मुख्य नायक सेरा है, जो विभिन्न परिस्थितियों से जूझता है। अपना अस्तित्त्व बचाने के लिये हर प्रकार का काम करता है। होटल का बैरा बनने से लेकर सूअर चराने तक। वह एक बेरोजगार युवक है, लेकिन कवि को उसमें कई संभावनाएँ नजर आती हैं। उसके बारे में कवि कहता है-

तुम
कालिक हस्तक्षेप हो
पार्थिव उपज हो
आकाशी सृष्टि हो
शारीरिक चेतना हो
नगाड़े की आवाज हो
जीवित हर्ष हो।

उसके बाद इनकी 'मौसम को हाक चलो' कविता संग्रह 2007 में आया। इनका तीसरा काव्य संग्रह 'सपनों से बनते हैं सपने' 2010 में आया। इन तीनों काव्य संग्रह की कविताओं से गुजरने पर कवि के विचार एवं चेतना में काफी उतार-चढ़ाव होता दिखायी पड़ता है। युगीन चेतना और संदर्भ किसी कवि की रचनाशीलता को अधिक यथार्थ बनाते हैं। देश में वैश्वीकरण, निजीकरण, बाजारवाद की अवधारणा भले ही अर्थशास्त्र क्षेत्र की पारिभाषिक शब्दावली हों लेकिन इसने आज संपूर्ण दुनिया की राजनीति, समाज, संस्कृति, साहित्य, भाषा, ज्ञान-विज्ञान-चिंतन के विविध क्षेत्रों को गहराई से प्रभावित किया है। इसने जीवन मूल्यों की जड़ों को हिलाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ा है। एक तरह से आधुनिक मानव समाज के समक्ष जीवन और प्रकृति की रक्षा की चुनौती खड़ी हो गयी है। विकास और विनाश की प्रक्रिया साथ-साथ क्रियाशील है। व्यक्ति इस बाजार में पण्यवस्तु बन गया है। लोकतांत्रिक मूल्यों की जगह निजी स्वार्थ एवं सुविधाओं को जुटाने में पूरा तंत्र मानो एक हो गया है। आर्थिक रूप से संपन्न होने वाले लोग साधारण इंसान से दूरियां बनाकर जीने लगे हैं। कहने का अर्थ है कि प्रेम, आत्मीयता, सहयोग, भाईचारा का हश्र हुआ है। वहीं दूसरी ओर मजदूरों, किसानों, बेरोजगारों की फौज खड़ी हो गयी है। भला चिंता के इन विषयों से कोई भी संवेदनशील कवि अपनी आँखें मूंद कर कैसे खामोश रह सकता है। उसकी चेतना में विचारों की तरंगें उठती रहती हैं। वह इस बदसूरत होती जिंदगी को परिवर्तन के माध्यम से नये सिरे से रचना चाहता है।

शंभु बादल जूझारू जनता एवं संघर्षधर्मी चेतना के साथ ही सामाजिक बदलाव के कवि हैं। सामाजिक परिवर्तन को क्रांति की आंख से देखते हैं। उनकी कविता शोषित- उत्पीड़ित-दलित जनता के प्रति न केवल सहानुभूति रखती है बल्कि उसे संगठित करने की प्रेरणा भी है, जिससे पूँजीवादी शक्तियों का मुकाबला किया जा सके। मार्क्सवादी चिंतन इनकी दृष्टि की ताकत है। 'मौसम को हांक चलो' कविता में जीवन विरोधी शक्तियों के विरुद्ध कवि का तेवर देखें-

दुनिया को जीतने की आकांक्षा
जगी है सम्राट में
धन पर लोटते हैवान में
प्रतिरोधी अस्त्रों से महाक्रमण को किल करो!
आवाज कौंधती है।

समकालीन कविता में विद्रोह के ये स्वर शंभु बादल की कविताओं में सर्वाधिक है। यहाँ बदलाव के न केवल प्रतिरोध के स्वर हैं बल्कि हथियार उठाने, हमला करने, तोड़फोड़ करने, गुरिल्ला नायक पैदा करने जैसे जनसंघर्ष के विविध रूप मिलते हैं। कवि की क्रांतिकारी चेतना विरोधियों के प्रति काफी उग्र है। इस संग्रह की दर्जनों कविताएँ- 'रचनाकार और जनता', 'महायुद्ध', 'तानाशाह', 'बाज और चिड़िया' क्रंति एवं बदलाव के भावबोध से लबरेज हैं, लेकिन इस सत्य से भी इनकार नहीं किया जा सकता है कि आज कविता में किसी प्रकार की नारेबाजी और छद्म क्रांति की बात कर जनता को गुमराह करना कविता के साथ न्याय करना नहीं हैं। खोखले नारे का हश्र इस देश की जनता दशकों से देखती चली आ रही है। साधारण जनता से कट कर कोई भी कविता इतिहास में टिक नहीं सकती। आज इस प्रकार की 'लाउडनेस' वाली कविताओं से पाठकों ने किनारा कर लिया है।

'सपनों से बनते हैं सपने' कविता संग्रह की कविताएँ कुछ हटकर हैं। इसमें कवि का स्वर थोड़ा बदला है। समाज एवं घटनाओं के प्रति संवेदनशीलता जगी है। पत्नी, बच्चे, ग्रामीण चरित्र आए हैं जो कवि की बदली हुई मानसिकता को दर्शाती है। हिंदी के सुप्रसिद्ध कवि केदारनाथ सिंह ने इस काव्य संग्रह की भूमिका में कहा है कि- ''झारखंड की उथल-पुथल भरी पृष्ठभूमि से समकालीन हिंदी कविता के परिदृश्य में, जो रचनाकार उभर कर आये हैं उनमें शंभु बादल का चेहरा थोड़ा अलग दिखाई पड़ता है'' उनकी यह विशिष्टता दरअसल उनकी कविता की सामाजिक परिवर्तन की चाह और संघर्ष-

धर्मी जनचेतना के कारण है। एक ओर कवि बाजारवाद को साम्राज्यवादी ताकतों का हथकंडा समझता है, जो पूरी दुनिया को अपनी मुटठी में कर चुका है। उसके प्रति तीव्र आक्रोश है। तेजी से बढ़ते और फैलते बाजारों की इस दुनिया को लेकर कवि काफी चिंतित है, लेकिन कवि जब लोक जीवन से जुड़ता है तो उसका हृदय से प्रेम की धारा झरने की तरह फूट पड़ता है। उसकी श्रद्धा और आत्मीयता मानो चरम को छूने लगती है। उनकी एक महत्त्वपूर्ण कविता है- 'नदी में कोई कंकड़ न डाले'। इसमें महापर्व छठ के अर्ध्य देने के वक्त किसी भी तरह खलल नहीं डालने का राहगीरों से निवेदन है। कवि जल को खिदोर नहीं देखना चाहता है। क्योंकि इसी जल का अर्ध्य देना है। इस शुभ कार्य के प्रति यहाँ कवि की निष्ठा व्यक्त हुई है जो उनके लोक जीवन के प्रति प्रेम को दर्शाता है-

नदी पार जाने वाले मौलाना भाई!
जरा ठहरो
थोड़ी देर में जाना
मेरी मां
मेरी पत्नी पूजा कर रही हैं!
वे परवैतिन हैं
जल्द सूर्य भगवान को
अर्ध्य देंगी।

कवि की चेतना में यह सांस्कृतिक एवं धार्मिक आस्था का उदय है। इसी तरह 'चहकती चिड़िया,' 'स्मृति की घंटी', 'सूरज', 'चेतना के नयन', 'शिमला' जैसी कविता कवि की अलग मूड की कविता है। इनमें प्रेम, सहानुभूति, आत्मीयता की संवेदना काफी सघन है। यहाँ विध्वंस की जगह सृजनात्मक चेतना की अभिव्यक्ति हुई है। दाम्पत्य प्रेम की संवेदना 'चहकती चिड़िया' में बड़े ही मार्मिक ढंग से व्यक्त हुयी है। यद्यपि कवि चाहता तो इस प्रेम संवेदना को सीधी सरल भाषा में भी व्यक्त कर सकता था, प्रतीकों का सहारा लेने की जरूरत नहीं थीं, क्योंकि यह कविता कवि की जिंदगी से निःसृत है। यहाँ प्रेम की निश्छलता है और बिछुड़ने की पीड़ा भी। कवि कहता है–

चिड़िया की कोमल चोंच में
तिनका था
चिड़िया ने बड़े यत्न से
बड़े प्रेम से
एक घोंसला बनाया
हम दोनों साथ साथ
घोंसले में रहने लगे
सुबह हुआ–न हुआ
चिड़िया/उड़ गयी
देखते ही देखते
आकाश दूर
बादलों से आगे
चांद–तारों के उस पार
गुम हो गयी चिड़िया

रह गयी चिड़िया की छवि
रह गया घोंसला
खाली, उदास
लोगों की नजर
जब घोंसले पर पड़ती है
चिड़िया याद में चहकती है।

जीवन साथी के साथ गुजरे क्षण उस चिड़िया की तरह है, जो एक ही घोंसले में रहते हैं और प्रेम करते हैं, लेकिन जीवन के ये संबंध बहुत स्थायी नहीं होते। साथ छूटते ही दूसरे के पास उसकी मात्र स्मृति ही शेष रह जाती है। आज की कविताओं में प्रेम, स्मृति, प्रकृति, आत्मीयता के भाव अधिक होने के कारण पाठक को अपने साथ जोड़ने में सफल हो पा रही हैं। शंभु बादल की कविताएँ समकालीन कविता में अलग स्वर से मौजूद हैं। इनका मूल्यांकन अभी तक नहीं हुआ है।

वरिष्ठ कवि अनिल जनविजय (1957) विगत तीन दशकों से समकालीन हिंदी कविता को अपनी बेहतरीन कविताओं से समृद्ध एवं सशक्त कर रहे हैं। उन्होंने जीवन-संघर्षों के कई कठिन दौर देखे हैं। कठिनाइयों को झेला है, टूटा है, बिखरा है और पुनः स्वयं को बेहतर स्थितियों में लाकर खड़ा भी किया है। उनकी जिंदगी रोजी-रोटी के लिये शहर-दर- शहर भटकती रही है। फिलहाल रूस में सपरिवार रहते हैं। वे प्रवासी भारतीय के रूप में जाने जाते हैं, लेकिन इनकी चेतना के रंग में भारतीयता इस तरह घुली हुई है कि इसे देह एवं प्राण की तरह अलग नहीं किया जा सकता है। ये समकालीन हिंदी प्रमुख कवियों में एक हैं। इनकी कविताओं में जन जीवन की समस्या, संघर्ष, भ्रष्ट-व्यवस्था की सच्चाई को उजागर करना और प्रेम की संवेदना मुखर है। अनिल जनविजय एक मायने में प्रेम संवेदना के ही कवि है। यह प्रेम विविध रूपों में प्रकट हुआ है। इसे दोस्त के रूप में, प्रेमी के रूप में घर-गृहस्थी के रूप में देखा जा सकता है। इनकी कविताओं का पहला संकलन भारत यायावर के संपादन में निकलने वाली पत्रिका 'विपक्ष सीरीज' के अंतर्गत- 'कविता नहीं है,ह' नाम से 1982 में प्रकाशित हुआ था। उसके बाद 1990 में कवि उदय प्रकाश के आग्रह पर 'मां, बापू कब आयेंगे' पुस्तक आयी। 2004 में 'रामजी भला करें' और 2015 में 'दिन है भीषण गर्मी' का काव्य संग्रह आया है। कवि की ये पुस्तकें इस बात

की गवाह हैं कि वे लगातार लिखते रहे हैं। इनमें दिशाहीनता नहीं, बल्कि मानवीय रागात्मक बोध का विस्तार हुआ है।

अनिल जनविजय का कवि भारतीय समाज में युगों से चली आ रही स्त्री-पुरुष की सामंतवादी पुरुष सत्तात्मक विचारधारा को तोड़ता है। कवि समाज में पुरुषों से अधिक औरतों को मान देने लोगों से अपील करता है, क्योंकि उनके पास ही आज इस संवेदनहीन होती जा रही दुनिया को बचाने की क्षमता है। वह स्त्री को दासी मानने की जगह रचना का प्रेरणा स्रोत, सूर्य की उष्मा, उर्जा का उदगम, जीवन का हर्ष, उल्लास और ममता का निर्द्धद्व सर्जक मानता है। वह अपनी कविता प्रार्थना में इस अधिकार की मानो वकालत करता है और पुरुषों को अपनी सोच को बदलने के लिये राजी करता है-

हे पुरुष!
एक ही प्रार्थना है तुमसे
यह हमारी दुनिया
औरतों के हाथों में दे दो
अगर तुम सुरक्षित रखना चाहते हो इसे
अपनी आने वाली पीढ़ी के लिये।

स्त्री को परिवार कह कर भी संबोधित किया जाता है। इसका एक कारण तो यह है कि उसके ही कंधों पर घर-गृहस्थी की सारी जिम्मेवारी होती है। खाना बनाने से लेकर घर की साफ-सफाई, गंदे कपड़ों की धुलाई, बच्चों की सेवा सुश्रुषा तक करना पड़ता है, और यदि वह एक दिन भी घर से किसी कारणवश बाहर चली जाए तो पूरा घर-संसार उदास सा लगता है। कवि ने स्त्री के बिना घर की उदासी का चित्रण कितनी संवेदनशीलता से किया है-

आज वह नहीं है
घर उदास है
अलगनी पर लटके है गंदे कपड़े
फर्श पर जमी है धूल
मेज पर पड़े हैं तीन सूखे गुलाब के फूल
गंदे बर्तनों का ढेर है रसोई
बुझी हुई अंगीठी में राख भरी है।

अर्थात् घर में सन्नाटा है। चीजों को हिलाने-डुलाने वाला कोई नहीं है। घर का सारा काम एक औरत के बिना किस प्रकार जहाँ का तहाँ रुका रह जाता

है, यह कविता उसका साक्ष्य प्रस्तुत करती है। अनिल जनविजय केवल प्रेम संवेदना के ही कवि नहीं है, बल्कि राजनीतिक छद्म और सामाजिक विषमता के खिलाफ संघर्ष करता है। साधारण लोगों में वर्गीय समझ विकसित होते देख कर अपनी कविता को उनके साथ चलने और परिस्थितियों से बाहर निकलने का आह्वान करता है–

कविता नहीं है यह
बंद पपड़ाए होंठों की भाषा है
लहराती झिलमिलाती हुई गतिमान
बाहर आने की तैयारी में।

वह मजदूरों का चुहचहाता पसीना है। छिली हुई चमड़ी की फुसफुसाहट है। मजदूरों के हाथों में हथौड़ा है। कवि के पास जीवन, समाज एवं देश–दुनिया को लेकर कोई भ्रम नहीं है। अपनी बात सीधा उस वर्ग से कहता है, जिन्हें आज तक सदियों से सताया जाता रहा है। बीसवीं सदी भयानक परिदृश्य वाली सदी थी। इसमें क्रूरता, युद्ध, मौत, हथियारों का बाजार क्या–क्या नहीं समाया था, जो जीवन के खिलाफ उपयोग आने वाले थे। विध्वंसक एवं विस्फोटक सामग्री से भरी सदी थी। कवि जीवन के सौंदर्य, उसके प्रेम एवं भाईचारे को कविता में बचाना चाहता है। कविता में कटुता की जगह आत्मीयता चाहता है। इसलिये कवि इस गुजरती सदी को पूरे उत्साह के साथ विदा करता है–

जाओ जाओ
बीसवीं सदी जाओ जाओ
अपने साथ ले जाओ तुम
युद्ध और
क्रुद्ध इस दुनिया के आवेश
दुनिया के देशों को बांटे जो
हथियार का जखीरे का
वह भयानक परिवेश।

अनिल जनविजय नये समाज के सृजन के कवि हैं। उनका प्रयास समाज को बदलने का रहा है। वह चाहता है बदहाल जीवन के बदलाव में प्रकृति और मनुष्य का सहयोग साथ–साथ मिले। इसलिये कवि नीम, बबूल, नदी, झील, तालाब, सूरज का नयी दुनिया के निर्माण के लिए अपने पास बुलाता है। 'कवि तुम भी आओ' कविता में कहता है–

मैं जमीन बना रहा
नीम और बबूल उगाता रहा
तालाब और झील के पानी को
उबालता रहा
सूरज बनाता रहा अपने ही बीच
निरंतर रोशनी के लिये
आओ
तुम भी
जमीन बन जाओ ।

कवि कल्पना के लोक में जाकर सृजन के बीज नहीं ढूंढ़ता, बल्कि अपने परिवेश में बिखरी हुई प्राकृतिक एवं सामाजिक शक्तियों को जगाने में विश्वास करता है। अनिल जनविजय की काव्य यात्रा अब भी जारी है। उनकी मानवीय संवेदना जीवन के प्रति और गहनतर होती जा रही है। तुकबाजी और नारेबाजी से मुक्त है इनकी कविता।

स्वप्निल श्रीवास्तव (1954) ग्रामीण परिवेश एवं संवेदना के सशक्त कवि हैं। इनकी कविताएँ ग्रामीण परिवेश, लोकाचार, आस्था, विश्वास, प्रेम, आत्मीयता के साथ उभर कर आयी हैं। इनमें जीवन की विविधाता और उसके सौंदर्य हैं। इनकी कविताएँ लोकजीवन से रस ग्रहण करती हैं। ग्रामीण संस्कार, सामाजिक जीवनबोध स्वभाविक रूप से कविता में उभर के आए हैं। वहाँ के जीवन यथार्थ के कई चित्र इन्होंने उकेरे हैं। समकालीन कविता के ये सशक्त कवि हैं। इनका पहला काव्य-संग्रह भारत यायावर द्वारा संपादित पत्रिका 'विपक्ष सीरीज' के अंतर्गत- 'ईश्वर एक लाठी है' नाम से 1980 में प्रकाशित हुआ। उसके बाद 1998 में 'ताख पर दियासलाई', 2004 में 'दूसरी पृथ्वी के लिये' और 'जिंदगी का मुकदमा' एवं 'जब तक है जीवन' कविता संग्रह आया। संग्रह की कविताओं में उनका ग्रामीण बोध, साधारण आदमी का जीवन, घर परिवार, पिता, दादा सगे-संबंधियों का एक ऐसा संसार है, जो समकालीन कविता में इनकी अलग से पहचान दिलाते हैं। पिता के कंधों पर बैठ कर मेला देखने जाने की स्मृतियां हैं। महुए के फूल हैं, वर्षा में भीगते धान हैं, गीली-गीली पगडंडियों पर सांचे की तरह छप गये पदचिन्ह हैं। कवि अपनी सांस्कृतिक जड़ों सें पेड़-पौधों की तरह जुड़ा हुआ दिखायी पड़ता है। उनकी एक कविता है-' धान का खेत'। इस कविता में कवि स्वप्निल श्रीवास्तव ने कृषि जीवन से जुड़े सुंदर जीवन का चित्रण किया है-

वर्षा में भीगते हैं
धान के खेत
हरे रंग की साड़ी में भीगती है युवती
युवती के मन के भीतर
युवा हो रहा है हरापन
धान के खेत में हवाओं की तरह
टहल रहे हैं बादल
वर्षा का जल मेड़ से ऊपर होकर बहता है
धान की फसल देख कर
गांव -गिरांव खेत-खलिहान
बड़े-बूढ़े बच्चे प्रसन्न हैं
धान के खेत पर महाजन की दृष्टि है!
महाजन क्या फसल को अपने खलिहान में ले जाऐगा?
यह सोचकर उदास हो जाते हैं धान के खेत।'

किसानों की जिंदगी से जुड़ा है कपास। यह उसकी मर्यादा का रक्षक है। गुलाब के फूल की जगह कवि कपास के फूल को पसंद करता है। उसे ही लगाना चाहता है, लेकिन इसकी बेल नहीं होती। इसका पौधा होता है। खैर, व्यक्ति के जीवन में जो गतिशीलता पैदा करे, जिसमें मेहनत की गंध है और संघर्ष है, कवि उन्हीं चीजों को पसंद करता है। गुलाब सुख, ऐश्वर्य और विलासिता को बढ़ावा देता है। यहाँ कवि की चयन दृष्टि किसान की है। वह कहता है-

मैं अपने आंगन में
गुलाब के पौधों की जगह रोपूंगा कपास की बेल
उसकी टहनियों और पत्तों से
जी भरकर प्यार करूंगा
गुलाब की गंध शिथिल कर देती है आदमी को
गुलाब का नहीं होता है कोई भविष्य
डाल से अलग होने के बाद
कपास के फूल जब खिलते हैं
फूलों के बगीचे

नन्हें-नन्हें अनुभवी हाथ
चुनते हैं कपास के फूल।

उनकी एक महत्त्वपूर्ण कविता है 'राजा और प्रजा'। यह कविता उस तंत्र को बेनकाब करती है जो मेहनतकश जनता को महज भेड़ समझता है, लेकिन दुखी, भूखी यह प्रजा गुस्से को उस समय पीकर कर रह जाती है जब राजा उसकी मेहनत नहीं देकर उसकी हथेली पर थूक देता है-

प्रजा भेड़ है
जिधर चाहे हाँक दे राजा
प्रजा दुख सहती है
भूखी रहती है
घाम-बतास में परिश्रम करती है
जब मजदूरी मांगने आती प्रजा
तो उसकी हथेली पर नफरत से थूक देता है राजा
प्रजा बिना गुस्से से लौट आती है।

इसी तरह दबे कुचले मेहनकशों के साथ अन्याय होता आ रहा है और जनता अपमान का घूंट पीकर सदियों से चली आ रही है।

वर्तमान जिंदगी में बनावटीपन ज्यादा है। दिखावे की इस संस्कृति ने व्यक्ति को बहुरूपिया बना दिया है। पूर्व की तरह न उसके जीवन में न तो सहजता है और न सरलता। ऐसे में कवि अपनी मौलिकता को खोज करता है। यह मौलिकता उसे पेड़ों, पौधों या कहें प्राकृतिक-जगत में मिलती है। इससे कवि को शर्मिंदा होना पड़ता है। सामाजिक जीवन हो या निजी जीवन व्यक्ति की कृत्रिमता सभी जगह देखी जा रही है। उसे अपना भविष्य भी संकटग्रस्त दिखायी पड़ रहा है। इसका कारण जीवन विरोधी शक्तियों की बाज रूपी फौज ने चारों तरफ से घेर रखा है। कवि 'तरु-पुरुषों के लिए' कविता में अपनी मौलिकता खोने के कारण क्षमा मांगता है-

मेरे तरु-पुरुषों मुझे क्षमा करना
मैं अपने परिंदों के साथ, नहीं
आ सकता, तुम्हारे पास
मेरे चारों ओर बाजों की एक फौज है
उनकी नुकीली चोंच में टंगा
है, मेरा भविष्य।

आज इंसान की जिंदगी ही काली ताकतों के चंगुल में फंस गयी है। इस बाजारवाद ने मनुष्य की औकात का सौदा किया है, जिसका अपना स्वाभिमान होता था। उसका गौरव, संस्कृति और इतिहास आज इस बाजार में कोई मायने नहीं रखता। आदमी की कीमत ही सबसे बड़ी ऐतिहासिक उपलब्धि माना जा रहा है, क्योंकि यहाँ उसके चेहरे, हंसने, गाने, रोने, नाचने, चूमने, हिंसा, लूट, हत्या कर गतिविधि के अभिनय का पैसा मिलता है। इसमें हर वर्ग के व्यक्ति बिकने के लिये शामिल है, जिसने अपने आपको कभी नहीं बेचा यहाँ खुशी-खुशी से बिकने के राजी है। इसके लिये, उन्हें शर्म नहीं आती है। यहाँ उन्हें उनकी अपेक्षा से अधिक पैसे मिल रहे हैं। मानव मूल्यों की कोई कीमत हो सकती है। प्रेम, स्नेह, सहानुभूति, हंसी, खुशहाली, स्वप्न बेचने लायक चीजें हैं, लेकिन साबुन, कपड़ा, जूता, चप्पल, तेल, नमक, हल्दी की तरह ये सब खुलेआम बाजार में बिक रहे हैं। कवि इस मुनाफाखोर बाजार तंत्र से आहत है। कवि ने 'बिकना' कविता में इस कटु यथार्थ को इस प्रकार दर्शाया है-

जो कभी नहीं बिके नहीं थे
वे इस बार के बाजार में बिक गए
सौदागर ने उनकी जो कीमत मुकर्रर की
वह उनकी औकात से ज्यादा थी
इसलिये वे खुशी खुशी बिक गए ।'

स्वप्निल श्रीवास्तव अपने परिवेश की हलचलों के प्रति जागरूक हैं। उनके पास देश दुनिया के बदलते हालात को समझने की अंतर्दृष्टि हैं। भाषा सहज और सरल है।

सुधीर सक्सेना (1955) समकालीन हिंदी कवियों में किसी परिचय के मोहताज नहीं हैं। उनकी कविताओं में अपने समय और समाज के यथार्थ व्यापक स्तर पर चित्रित हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक समस्याओं से घिरे इंसान की पीड़ा, उसकी छटपटाहट और राष्ट्र-विरोधी ताकतों के खिलाफ आवाज दर्ज है। इनकी कविताओं में व्यक्ति के सुख-दुख, आशा एवं प्रेम जिंदा है। ये अपने समकालीनों में विशिष्ट अंदाज के किंतु मानवीय संवेदना से भरे कवि हैं। 1990 में उनका पहला कविता संग्रह ' बहुत दिनों के बाद' आया। उसके बाद उनका 1997 में 'काल को भी नहीं पता' और 'समरकंद में बाबर' काव्य-संग्रह आया। इन कविताओं में सामाजिक, राजनीतिक, वैश्विक, धार्मिक जीवन के कटु यथार्थ हैं। कवि कहीं समझौतावादी नहीं है। उनकी भाषा ढंकी छुपी राजनीति की

बुराइयों को उघाड़ कर रख देती है। कवि केवल स्थानीय जीवन के प्रति ही जागरूक नहीं है, बल्कि देश एवं दुनिया में घटनावाली बड़ी घटनाओं पर भी स्थल विशेष के रूप में कविता लिखता है। ये कविताएँ किसी न किसी सामाजिक, ऐतिहासिक, धार्मिक घटनाओं की याद दिलाती हैं। इनमें कवि की चिंता मुखर रूप से प्रकट हुई है। इससे उनकी चेतना की व्यापकता का अंदाज लगाया जा सकता है। उन्होंने इन स्थलों पर शृंखलाबद्ध कविताएँ लिखी हैं। इनमें अयोध्या, मुंबई, पेइचिंग, बीकानेर जैसे नाम शामिल हैं। विकास एवं समृद्धि के साथ साथ धार्मिक उन्माद के शिकार भी यह शहर रहा है। यहाँ लोकतांत्रिक मूल्यों एवं मानवीय संवेदना की धज्जियां उड़ी है। मुंबई और अयोध्या दंगों के लिये कुख्यात रहा है। जन-जीवन को रौंदा गया है। कवि इन शहरों को विषय बना कर एक साथ कई विचार संवेदनाओं की ओर से संकेत करता है। इनकी समरकंद में बाबर कविता संग्रह काफी चर्चित हुआ था। ये लगभग तीन दशकों से लगातार लिखते आ रहे हैं, लेकिन हिंदी आलोचना ऐसे वरीय प्रतिभाशाली कवियों की ओर कभी मुखर नहीं हो सकी।

सुधीर सक्सेना का कवि मनुष्य जीवन पर होने वाले किसी भी तरह के अमानुषिक हमले से अंतर तक हिल जाता है। समाज में भय एवं आतंक ने ऐसा माहौल पैदा कर दिया है कि रात में घर-परिवार के बच्चे अशांत रहते हैं। मानो उनकी नींद ही छीन ली गयी है। आतंक का क्रूर चेहरा व्यक्ति को जान बचाने के लिये अज्ञात शक्तियों की शरण में ढकेल देता है। इस आतंक ने आज की जिंदगी में अंदर तक पैठ बना लिया है। और पृथ्वी का हर इंसान इस दानवी शक्ति से कांप रहा है। ये कभी भी व्यक्ति पर हमला बोल सकते हैं। चाहे वह घर में सोया हो या प्रार्थना कर रहा हो। कवि यहाँ 'काल को भी पता नहीं' कविता में मर्माहत होकर इस सत्य को उजागर करता है-

दरवाजे पर हाथ नहीं बजते
पसलियों में धाड़-धाड़ बजता है भय बेमिसाल
कल तक अजनबी
आज इतना परिचित
मानो जन्मा हो साथ-साथ
दस्तक हुई नहीं
रात-बिरात

कि बच्चे को भींच लेता है पिता
मां बुदबुदाती है अस्फुट प्रार्थना।''

अपने समय का भयावह चेहरा देखकर कवि चिंतित है। हर तरफ असुरक्षा के वातावरण का निर्माण किया जा रहा है। व्यवस्था अपनी सत्ता को सुरक्षित रखने में पूरे शासन तंत्र को झोंक रही है।

समकालीन कविता में एक ओर जहाँ तनाव, संघर्ष, दुख, तकलीफ, परिवर्तन की चेतना है, वहीं दूसरी ओर मानव जीवन में गहरी आशा और आस्था भी है। दुनिया में बुराइयों का अंत नहीं है। जीवन को आघात पहुँचाने वाली परिस्थितियां हमेशा किसी न किसी रूप से घेरी रहती हैं। कवि इस संसार में इन विध्वंसक परिस्थितियों में आशा, प्रेम और सृजन का दामन नहीं छोड़ता है। मनुष्य को जीवित रहने की उम्मीद प्रकृति के उपादानों- पेड़-पौधों, उसके पत्ते की हरियाली, नदी, जल से बंधी है। सुधीर सक्सेना का काव्य-संसार एक मायने में आस्था, विश्वास एवं आत्मसंबल का विराट संसार है। यहाँ आशा एवं विश्वास के लिये उनकी कविता 'सुहान है अभी धरती' रहेगी। कवि इसमें पूरी आस्था के साथ कहता है। यह उम्मीद पत्तियों में चुटकी भर क्लोरोफिल, मुटठी भर दाने, पडोस की नदी में जल, चूल्हे में राख, गांव के पूरब में गाछ और उस पर घोंसले, हल की नई नकोर फाल, हंडिया में थोड़े से बीज एवं तकिये तले ख्वाब बच रहने से जुड़ी है, जब तक ये सारी चीजें अपने अस्तित्त्व के साथ धरती पर रहेंगी कवि हमें आश्वस्त करता है कि हमारा अंत संभव नहीं है-

बुरा समय है यह
लेकिन इतना बुरा भी नहीं मियां
कि जीने को जी न चाहे
जब तक शेष है
पत्ती में चुटकी भर क्लोरोफिल
और क्लोरोफिल की चक्की में
मुटठी भर के दाने और कवि अंत में निष्कर्ष के रूप में कहता है-
जब तक पायताने हैं समय
और सिरहाने तकिये तले ख्वाब
तब तलक सुहागन है धरती
तब तलब सौभाग्यशाली हैं
धरती के बेटे

हम और आप।

इस प्रकार हम पाते हैं कि सुधीर सक्सेना अनुभव में परिपक्व और दृष्टि संपन्न हैं। अपने परिवेश के प्रति गंभीर एवं संवेदनशील हैं। कवि की साहित्यिक साधना रुकी नहीं है। इनकी भाषा का तेवर अपने समकालीनों में हट कर है। किसी कवि को उसकी जीवन-दृष्टि ही बड़ा बनाती है। उसके काव्य-संसार में जीवन के कितने रूप समाहित हुए हैं और कवि मानव जीवन को इस विभ्रमित संसार से बाहर निकलने का कैसी दुनिया प्रस्तुत करता है, यह उसके विवेक पर ही आश्रित है।

राजा खुगशाल (1951) समकालीन कविता के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षर माने जाते हैं। इनके पर्वत प्रदेश के जीवन संघर्ष, वहाँ के परिवेश और प्राकृतिक सौंदर्य इनकी कविताओं की अलग पहचान दिलाते हैं। पहाड़ी एवं मैदानी इलाकों में जीवन जीने वाले साधारण लोगों के अनुभव, विचार, मेहनत, कृषि, व्यवसाय आदि इनकी कविताओं में आते हैं। वहीं सहजता से अपनी बात कहने की भी कवि में अदभुत कला है। पौढ़ी-गढ़वाल का परिवेश इनकी रचनात्मक दुनिया एक बिल्कुल नये रूप में उपस्थिति होती है। इनका पहला काव्य संग्रह 'संवाद के सिलसिले' 'सदी के शेष वर्ष' 1991 में छपा। उसके इनका दूसरा काव्य संग्रह 'पहाड़ शीर्षक है पृथ्वी के' 2012 में छपा। इनके अलावा अन्य विदेशी भाषाओं की कविताओं का अनुवाद भी इन्होंने किया है। इनकी कविताएँ अपने समय के ज्वलंत प्रश्नों से टकराती हैं। चाहे रोजी-रोटी, भूख, गरीबी की बात हो या फिर पर्यावरण की समस्या। उनकी दृष्टि में जीवन में व्यापकता और उसके अंतर्विरोध कविता को यथार्थ के करीब लाते हैं। वैश्वीकरण, निजीकरण, और बाजारवाद के इस भयानक प्रतियोगिता और लूटपाट के दौर में कवि देश दुनिया में घटने वाली चीजों पर विशेष ध्यान रखता है। वह दुनिया के बदलते चेहरे और पर्यावरण के प्रति बढ़ते अत्याचार को कविता में दर्ज करता है। बाजारवाद ने एक ऐसा तंत्र विकसित किया है, जिसके प्रलोभन के साधारण -असाधारण हर वर्ग के लोग शिकार हैं। मनुष्य का स्वाभिमान से जीने वाला प्राणी है। उसके ज्ञान-विज्ञान, समाज और राष्ट्र का निर्माण दरअसल उसके विकसित जीवन दृष्टि के ही परिणाम हैं, लेकिन आज धन की अधिक चाह और उपभोग की अनंत भूख ने उसे पुण्यवस्तु बना डाला है। बाजार में उसके हर्ष, दुख, पीड़ा, स्वप्न, हंसता चेहरा, रोता चेहरा, देह के अंग, आंख और आंसू सबकी कीमत मिलती है। आप जो कुछ बेचना चाहें यहाँ बेच सकते हैं। किसी

स्वाभिमान और प्रतिष्ठा जैसे मूल्यों की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। कवि ने इस यथार्थ को अपनी कविता 'दुनिया का चेहरा' में इस प्रकार व्यक्त किया है–

बेहद आसान है अब चेहरा बदलना
चेहरा ओढ़ना
चेहरा बेचना और खरीदना
अब एक चेहरे के पर
कई चेहरे हैं।

बाजार का फैलता दानवी रूप हमारी परंपरा, संस्कृति एवं मानवीय मूल्य मुनाफा कमाने के लिये निगल जायेगा। स्त्री, बच्चे एवं प्रकृति सौदागरों की आंखों से सिर्फ बाजार के लिये बिकाऊ माल से ज्यादा कुछ भी नहीं है।

संपूर्ण विश्व की साझी विरासत है पर्यावरण। आज यह असंतुलित हो गया है। दुनिया के शासकों ने अपने विकास एवं सुविधाओं के लिये विवेकहीन होकर दोहन किया है। नदी, पर्वत, वन, मिट्टी कुछ भी सुरक्षित नहीं है। धरती के अंदर और उसकी सतह पर हर चीज का विनाश हो रहा है। विकास की इस अंधी दौड़ को देखकर कवि की चिंता बढ़ गयी है। जल, वायु, समुद्र सब प्रदूषित हो गये हैं। जिंदगी के सामने आत्मरक्षा का संकट पैदा हो गया है। इसके दुष्प्रभाव लोगों के सामने आने लगे हैं। कवि इस सच्चाई के प्रति जागरूक करता है। 'पर्यावरण–दो' कविता में जीवन की भयावह स्थिति को देखें–

कुछ लोग बांध बना गए हैं नदियों पर
कुछ लोगों ने धुएं से ढंक दिए जंगल
कुछ मास्क पहन कर निकलते सड़कों पर
कुछ लोग दूरबीन से देखने लगे
यूनियन कार्बाइड और चेरनोबिल की चिमनियां
चीखने–चिल्लाने लगे कुछ लोग
बचाइए, पृथ्वी को बचाइए
बचाइए, धरती पर मनुष्य का जीवन।

विकास की पराकाष्ठा में इंसान बच नहीं पायेगा, कुछ इसी तरह का इंतजाम दुनिया में किया जा रहा है। यह मानवजाति के लिए सबसे बड़ी चिंता का विषय है

राजा खुगशाल की कविता में साधारण लोगों के जीवन–यापन के तौर तरीके एवं उनकी कठिनाइयां भी हैं। पहाड़ी क्षेत्रों में लोग कुछ काल तक खेती

करते हैं और उसके बाद भेड़-बकरियां चराने का काम करते हैं। वे इसके लिये दूर-दूर तक चले जाते हैं। जब फसल काटने का वक्त होता है तो वे पुनः अपने कृषि कार्य में जुट जाते हैं। कवि ने भोटिया जाति के इस संघर्ष को बड़े ही जीवंत ढंग से चित्रित किया है। समकालीन हिंदी कविता में इस प्रकार का जीवन बहुत कम दिखायी पड़ता है। इसका एक कारण है कि अधिकांश कवियों का महानगरों में जीवन बिताना। जो कवि साधारण जीवन के करीब रहेगा, उसके साथ कुछ पल बिताएगा निश्चित रूप से वहाँ उसे नये अनुभव भी मिलेंगे। किताबों में ऐसे ज्ञान नहीं होते है। वहाँ तो कृत्रिमता का भी भरमार है। ताजगी परिवेश और वहाँ के लोकजीवन में प्राप्त होती है। कवि 'भोटिए' कविता में कहता है-

'कोई भी पर्वत
कोई भी जंगल
अगम-अगोचर नहीं है उनके लिए
उन्हें आकर्षित करते हैं पेड़ के कोमल पत्ते
अच्छे लगते हैं उन्हें
लहलहाती घासों के वन, हरे भरे झुरमुट
घास और जहाँ मिलते हैं भेड़-बकरियों के साथ
वे वहीं रूक जाते हैं।'

यह कविता भोटिया जाति के जीवन का साक्षात दर्शन प्रस्तुत करती है। राजा खुगशाल प्रकृति और मानव के अंतर्विरोधों के सूक्ष्य अनुभव को अपनी कविता की ताकत मानते हैं। उनकी खंडहर, बारिश के दिनों में मां, नदी ,पहाड़ पर घर, पत्थर, इक्कीसवीं सदी के दहलीज पर आदि कविताएँ नयी सोच एवं चिंतन से सामान्य जन को जोड़ती हैं। सरल एवं सहज भाषा कविता को पारदर्शी बनाती है। सकारात्मक भाव बोध इस पीढ़ी के कवियों की विशेषताएं हैं। जो इन्हें पूववर्ती पीढ़ी के कवियों से अलगाती हैं। राजा खुगशाल आज भी लिख रहे हैं।

नरेंद्र पुंडरीक (1954) साधारण लोगों के जीवन और उनके सहज सामाजिक बोध के प्रति जागरूक कवि हैं। जिंदगी को देखने एवं समझने का उनके पास बिल्कुल अलग नजरिया है। ये विचारों से अधिक कविता में संवेदना को महत्त्व देते हैं। जीवन के बहुआयामी पक्ष कविता को बहुविविधता प्रदान करते हैं। यह जीवन को समग्रता में देखने की नयी दृष्टि है। महानगरीय जीवन में प्रवेश करने वाले कवि के जीवन से ग्रामीण संस्कृति एवं परंपरा विलुप्त हो

गयी। वह कृत्रिम संसार का नागरिक बन गया है, जिसमें छद्म एवं बनावटीपन ज्यादा है। अपनी जमीन से कटे कवि की कविताओं में यथार्थ की जगह स्मृतियों के बहाने केवल नॉस्टेलजिया की अभिव्यक्ति होने लगी है। गांवों के प्रति कवि की दृष्टि भी रूढ़िवादी है। उसमें वैज्ञानिक सोच नहीं दिखायी पड़ता। ऐसे उनकी कविताएँ अस्वाभाविक-सी लगती है, लेकिन नरेंद्र पुंडरीक की कविताएँ बिना किसी लाग लपेट एवं सजावट बनावट के सीधे जीवन एवं उसकी मिट्टी से जोड़ती हैं। यहाँ स्मृतियां वर्तमान जीवन को संबल प्रदान करती हैं। उसकी ताकत से जीवन के प्रति कवि की आस्था बढ़ती है। इनकी कविता में दोस्त, प्रेम, भाईचारे को बचाने की चिंता है वहीं सामाजिक विकृतियों एवं असमानता के प्रति प्रतिरोध भी है। विश्व में बदलते जीवन के प्रति जागरूकता है। प्रेम एवं स्नेह कवि की कविता को अधिक मानवीय एवं संवेदनशील बनाते हैं। और यही समकालीन कविता को नयी पहचान भी देती है। कोई राजनीतिक नारा बनने से बचाती है। कवि का विश्वास है कि मनुष्य की इच्छाएं नहीं मर सकती हैं। इनका पहला काव्य-संग्रह 1992 में 'नंगे पांव का रास्ता' आया। तत्पश्चात 2002 में 'सात आकाशों वाली लाड़ली, 2014 में, 'इन्हें देखने दो इतनी ही दुनिया' और ' इस पृथ्वी की विराटता में' कविता संग्रह 2015 में छपे। 'माटी' पत्रिका का संपादन भी कर रहे हैं।

नरेंद्र पुंडरीक सघन अनुभूतियों एवं गहरी मानवीय संवेदना के कवि हैं। इनकी कविताओं में मैत्री, प्रेम, एक दूसरे के प्रति सम्मान और समय की गति में पिछड़े लोगों के प्रति आत्मीयता का बोध है। उनकी जिंदगी के संपर्क में आये लोग उनकी स्मृति में हमेशा रहते हैं। वहीं सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक चेतना से युक्त कविताएँ भी हैं। मनुष्य के जीवन में व्याप्त विषमता, अत्याचार एवं बढ़ती कृत्रिमता के प्रति कवि में गहरा असंतोष है। मनुष्यता कैसे देश दुनिया में जीवित रहे और उसको कैसे जिंदा रखा जाए कवि के पास बचाने के लिये संस्मरण की टेकनीक भी है और लोगों से दोबारा जुड़ने की इच्छा भी है। यह एक प्रकार से भाव-योग है। अपनी कविता 'अब तो लगता है' में कवि अपने बाल-जीवन को याद करता है। उसमें खेला जानेवाला 'छुपा-छुपौवल' आज तक वह नहीं भूल पाता है। इस निश्छल खेल और अंकुरते मानवीय प्रेम इन पंक्तियों में व्यक्त हुआ है-

हम लड़कों का प्रिय खेल था
छुपा-छुपौवल

क्योंकि इसमें अक्सर ही
छुपा लेते थे हम
बड़ों की आंखों से
अपनी आंखों का रंग।

बाल जीवन में प्रेम से लिखी यह कवि की मानो पहली इबारत है।

दिल्ली सिर्फ महानगर ही नहीं है, बल्कि राजनीतिक राजधानी भी है। देश-दुनिया के विचारों, ज्ञान-विज्ञान एवं राजनीतिक हलचलों का भी केंद्र है। यहाँ कवि को आधुनिक सभ्यता की ढेर सारी कमियां नजर आयीं। कभी देखी गयी दिल्ली अब वैसी नहीं रही, क्योंकि उसमें काफी बदलाव आया है। और यह कोई बड़ी बात नहीं है। कवि दिल्ली में क्या चाह रहा था जो इस बार नहीं मिला और जो कुछ देखा उससे हिल गया। इंसान की जिंदगी को हिलाने वाले कई कारण हैं। भूख, गरीबी, फटेहाली, फुटपाथ में घिसटते लोग, लोगों के बनावटीपन और रातों-रात बढ़ती इमारतों की गगनचुंबी ऊंचाई। कवि को दिल्ली को बदली बदली देख कर आश्चर्य हो रहा है-

'दिल्ली में जो इस बार दिखा
वह इसके पहले
कभी नहीं दिखा
जो दिखा वह कहीं से
नहीं दिख रहा था कि वह दिल्ली है
जो मुझे अब तक कहीं नहीं मिला था
आंखें जो बरसों से चाहती थीं
वह यहाँ हिल रहा था
हिला रहा था
हिल कर मेरे भीतर मिल रहा था।

कवि यहाँ इतिहास और वर्तमान की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक के साथ ही बाजारवादी संस्कृति का आकलन कर रहा है।

नरेंद्र पुंडरीक भी अस्सी के दशक में उभरी नयी युवा पीढ़ी के सशक्त हस्ताक्षर कवि हैं। इस पीढ़ी की कविताओं ने पूर्व के कवियों की लटके-झटके वाली भाषा और बड़बोलेपन ने इनकार कर दिया और घर, परिवार, रिश्ते-नातों के विविध रंगों एवं सौंदर्यवाली दुनिया ले आई। यहाँ अपने समय के साथ-साथ वैसे लोग भी है, जिनका संबंध कवि के बचपन से रहा है। और वह याद करता

है कि जो बच्चे थे अब लड़के हो गये गए होंगे। बावजूद जो उनमें भी एक दूसरे से मिलने-जुलने की इच्छाएं बची होंगी। 'मरी नहीं होंगी इच्छाएं' कविता में इस स्मृति की बानगी देखें-

लड़के हो गये होंगे
मेरी ही तरह अधबूढ़े
लेकिन मरी नहीं होंगी इच्छाएं।

कवि का यह साथीपन का अभाव उम्र के बढ़ने के साथ-साथ अधिक खल रहा है। उनकी यहीं संवेदनशीलता समाज एवं व्यक्ति के संबंधों को मजबूत करने में अहम भूमिका निभाती है। घोर भौतिकतावादी युग में भी किसी के उपकार को, उसके दिये प्यार को और सबसे बढ़कर उसकी निस्पृहता को कभी भूल नहीं पाता है। गुरबत के दिनों में काम आने वाले लोग अपने अभिभावकों से कम नहीं होते हैं। उनके बढ़े हाथ माता-पिता के हाथ की तरह नि:स्वार्थ लगते हैं। कवि ऐसे ही लोगों के जीवन एवं उनके त्याग और प्रेम से अपनी कविता को रचता है। यहाँ कवि की मार्मिक और इस टूटते, बिखरते एवं क्षीण होती मानवीय संवेदनाओं को ताजा करनेवाली कविता 'इन हाथों के बिना' में देखी जा सकती है-

जिनकी निस्पृहता कई गुन
बड़ी दिखती है पिता से
पिता की तरह दिखते हैं इनके हाथ
मां की तरह दिखती हैं इनकी आंखें
इन आंखों और इन हाथों के बिना
अनाथ-सी लगती है यह दुनिया।

यही स्नेह, प्रेम और कृतज्ञता इंसान की जिंदगी को और अधिक मानवीय बनाते हैं। इसके अलावा 'बनारस', 'घर मर जाते हैं', 'वे नाखून थे' आदि कविताओं में जीवन का सहज बोध और जनसारधारण के प्रति उत्कट भाव एवं विचारों का उदात्त चित्रण है।

समकालीन कवियों में राकेश रेणु को भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने लिखा बहुत कम है, लेकिन जब हम उनकी कविताओं से गुजरते हैं तो उसमें बदलते वैश्विक परिप्रेक्ष्य में भारतीय समाज में हो रहे मानवीय मूल्यों के क्षरण, स्त्री की अस्मिता, उसके भूमंडलीकरण में बहुराष्ट्रीय कंपनियों के उत्पाद की तरह ब्रांड बनना और राजनीति का ढोंग उजागर होते दिखाई देते हैं। इनकी

कविताओं में राजनीतिक चेतना सत्ता के संचालकों के पाखंडी मुखौटों को नोंच डालती है। सबसे चिंतनीय बात है स्वतंत्रता की आड़ में स्त्री का बाजार में माल में बदल जाना, जबकि देश के अधिकांश हिस्से में स्त्री विभिन्न प्रकार के अभावों एवं परेशानियों में जी रही है। सरकार भी विकास योजनाओं को जमीन पर दिखाने के लिये इनका इस्तेमाल करती है। कवि विकास के ढिंढोरा पीटने वाले नेताओं की कलई अपनी एक कविता 'अप्सरा' में इस प्रकार खोलता है–

हमारी स्त्रियाँ भी बन सकती हैं विश्व–सुंदरियां जिनसे
और ऊपर उठाया जा सकता है इच्छाओं का स्तर
इनके जरिए
अंतराल में कुछ अन्य स्त्रियां दिखाई जाती हैं
माथे पर पानी से भरे मटके ढोती चापानल चलाती
हमें बताया जाता है पचास–साला उपलब्धियों के बारे में
कि पानी मिल जाता है गांवों में अब
कुछ स्त्रियां सयास हंसती हैं कैमरों के सामने
जिनसे खुशहाली का बोध कराया जाता है।

राकेश रेणु की कविताएँ नये चिंतन एवं सोच की अभिव्यक्ति हैं। इसमें सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक बदलाव के तीखे स्वर हैं।

इस पीढ़ी में और भी कवि के नामों का उल्लेख किया जा सकता है, जिन्होंने अपनी बेहतर कविताओं से समकालीन हिंदी कविता में अपनी धमाकेदार उपस्थिति दर्ज करायी थी। सभी कविताओं में एक दायित्व बोध है, जो अपने समाज, देश एवं मनुष्य की बदहाली को दूर कर लोकतांत्रिक मूल्यों के आधार पर नये समाज की रचना के प्रति प्रतिबद्ध है। इन कवियों के पास किसी विचारधारा को लेकर आग्रह नहीं बल्कि जीवन को उसकी स्वाभाविक गति, विकास एवं परिवर्तन को समझने की वैज्ञानिक दृष्टि है। यही कारण है कि आज की कविताओं में अनंत संभावनाएं देखी जा रही। आज की कविता का परिवेश निरंतर विस्तृत होता आ रहा है। अनेक युवा कवि लिख रहे हैं। इनकी रचनाओं पर समय –समय पर विचार–विमर्श करने की आवश्यकता आ पड़ी है।

2

काव्य

काव्य, कविता या पद्य, साहित्य की वह विधा है, जिसमें किसी कहानी या मनोभाव को कलात्मक रूप से किसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। भारत में कविता का इतिहास और कविता का दर्शन बहुत पुराना है। इसका प्रारंभ भरतमुनि से समझा जा सकता है। कविता का शाब्दिक अर्थ है काव्यात्मक रचना या कवि की कृति, जो छन्दों की शृंखलाओं में विधिवत् बांधी जाती है।

काव्य वह वाक्य रचना है, जिससे चित्त किसी रस या मनोवेग से पूर्ण हो अर्थात् वह जिसमें चुने हुए शब्दों के द्वारा कल्पना और मनोवेगों का प्रभाव डाला जाता है। रस गंगाधर में 'रमणीय' अर्थ के प्रतिपादक शब्द को 'काव्य' कहा है। 'अर्थ की रमणीयता' के अंतर्गत शब्द की रमणीयता (शब्दालंकार) भी समझकर लोग इस लक्षण को स्वीकार करते हैं। पर 'अर्थ' की 'रमणीयता' कई प्रकार की हो सकती है। इससे यह लक्षण बहुत स्पष्ट नहीं है। साहित्य दर्पणाकार विश्वनाथ का लक्षण ही सबसे ठीक जँचता है। उसके अनुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'। रस अर्थात् मनोवेगों का सुखद संचार की काव्य की आत्मा है।

काव्यप्रकाश में काव्य तीन प्रकार के कहे गए हैं, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य और चित्र। ध्वनि वह है, जिसमें शब्दों से निकले हुए अर्थ (वाच्य) की अपेक्षा छिपा हुआ अभिप्राय: (व्यंग्य) प्रधान हो। गुणीभूत ब्यंग्य वह है, जिसमें गौण हो। चित्र या अलंकार वह है, जिसमें बिना ब्यंग्य के चमत्कार हो। इन तीनों को क्रमश: उत्तम, मध्यम और अधम भी कहते हैं। काव्य प्रकाशकार का जोर छिपे

हुए भाव पर अधिक जान पड़ता है, रस के उद्रेक पर नहीं। काव्य के दो और भेद किए गए हैं, महाकाव्य और खंड काव्य। महाकाव्य सर्गबद्ध और उसका नायक कोई देवता, राजा या धीरोदात्त गुंण संपन्न क्षत्रिय होना चाहिए। उसमें श्रृंगार, वीर या शांत रसों में से कोई रस प्रधान होना चाहिए। बीच-बीच में करुणाय हास्य इत्यादि। और रस तथा अन्य लोगों के प्रसंग भी आने चाहिए। कम से कम आठ सर्ग होने चाहिए। महाकाव्य में संध्या, सूर्य, चंद्र, रात्रि, प्रभात, मृगया, पर्वत, वन, ऋतु, सागर, संयोग, विप्रलम्भ, मुनि, पुर, यज्ञ, रणप्रयाण, विवाह आदि का यथास्थान सन्निवेश होना चाहिए। काव्य दो प्रकार का माना गया है, दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जो अभिनय द्वारा दिखलाया जाए, जैसे, नाटक, प्रहसन, आदि जो पढ़ने और सुनेन योग्य हो, वह श्रव्य है। श्रव्य काव्य दो प्रकार का होता है, गद्य और पद्य। पद्य काव्य के महाकाव्य और खंडकाव्य दो भेद कहे जा चुके हैं। गद्य काव्य के भी दो भेद किए गए हैं- कथा और आख्यायिका। चंपू, विरुद और कारंभक तीन प्रकार के काव्य और माने गए है।

परिचय

सामान्यत: संस्कृत के काव्य-साहित्य के दो भेद किये जाते हैं- दृश्य और श्रव्य। दृश्य काव्य शब्दों के अतिरिक्त पात्रों की वेशभूषा, भाव-भंगिमा, आकृति, क्रिया और अभिनय द्वारा दर्शकों के हृदय में रसोन्मेष कराता है। दृश्यकाव्य को 'रूपक' भी कहते हैं क्योंकि उसका रसास्वादन नेत्रों से होता है। श्रव्य काव्य शब्दों द्वारा पाठकों और श्रोताओं के हृदय में रस का संचार करता है। श्रव्य-काव्य में पद्य, गद्य और चम्पू काव्यों का समावेश किया जाता है। गत्यार्थक में पद् धातु से निष्पन 'पद्य' शब्द गति की प्रधानता सूचित करता है। अत: पद्यकाव्य में ताल, लय और छन्द की व्यवस्था होती है। पुन: पद्यकाव्य के दो उपभेद किये जाते हैं–महाकाव्य और खण्डकाव्य। खण्डकाव्य को 'मुक्तकाव्य' भी कहते हैं। खण्डकाव्य में महाकाव्य के समान जीवन का सम्पूर्ण इतिवृत्त न होकर किसी एक अंश का वर्णन किया जाता है–

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। - साहित्यदर्पण, 6/321

कवित्व के साथ-साथ संगीतात्कता की प्रधानता होने से ही इनको हिन्दी में 'गीतिकाव्य' भी कहते हैं। 'गीति' का अर्थ हृदय की रागात्मक भावना को छन्दोबद्ध रूप में प्रकट करना है। गीति की आत्मा भावातिरेक है। अपनी रागात्मक अनुभूति और कल्पना के कवि व्ण्र्यवस्तु को भावात्मक बना देता है। गीतिकाव्य

में काव्यशास्त्रीय रूढ़ियों और परम्पराओं से मुक्त होकर वैयक्तिक अनुभव को सरलता से अभिव्यक्त किया जाता है। स्वरूपत: गीतिकाव्य का आकार-प्रकार महाकाव्य से छोटा होता है। इन सब तत्त्वों के सहयोग से संस्कृत मुक्तक काव्य को एक उत्कृष्ट काव्य रूप माना जाता है। मुक्त काव्य के महाकाव्यों की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय हुए हैं।

संस्कृत में गीतिकाव्य मुक्तक और प्रबन्ध दोनों रूपों में प्राप्त होता है। प्रबन्धात्मक गीतिकाव्य का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मेघदूत है। अधिकांश प्रबन्ध गीतिकाव्य इसी के अनुकरण पर लिखे गये हैं। मुक्तक वह है, जिसमें प्रत्येक पद्य अपने आप में स्वतंत्र होता है। इसके सुन्दर उदाहरण अमरूकशतक और भतृहरिशत कत्रय हैं। संगीतमय छन्द मधुर पदावली गीतिकाव्यों की विशेषता है। श्रृंगर, नीति, वैराग्य और प्रकृति इसके प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। नारी के सौन्दर्य और स्वभाव का स्वाभाविक चित्रण इन काव्यों में मिलता है। उपदेश, नीति और लोक व्यवहार के सूत्र इनमें बड़े ही रमणीय ढंग से प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि मुक्त काव्यों में सूक्तियों और सुभाषितों की प्राप्ति प्रचुरता से होती है।

मुक्तक काव्य की परम्परा स्फुट सन्देश रचनाओं के रूप में वैदिक युग से ही प्राप्त होती है। ऋग्वेद में सरमा नामक कुत्ते को सन्देशवाहक के रूप में भेजने का प्रसंग है। वैदिक मुक्तक काव्य के उदाहरणों में वशिष्ठ और वामदेव के सूक्त, उल्लेखनीय हैं। रामायण, महाभारत और उनके परवर्ती ग्रन्थों में भी इस प्रकार के स्फुट प्रसंग विपुल मात्रो में उपलब्ध होते हैं। कदाचित् महाकवि वाल्मीकि के शाकोद्गारों में यह भावना गोपित रूप में रही है। पतिवियुक्ता प्रवासिनी सीता के प्रति प्रेषित श्री राम के संदेशवाहक हनुमान, दुर्योधन के प्रति धर्मराज युधिष्ठिर द्वारा प्रेषित श्रीकृष्ण और सुन्दरी दमयमन्ती के निकट राजा नल द्वारा प्रेषित सन्देशवाहक हंस इसी परम्परा के अन्तर्गत गिने जाने वाले प्रसंग हैं। इस सन्दर्भ में भागवत पुराण का वेणुगीत विशेष रूप से उद्धरणीय है, जिसकी रसविभोर करने वाली भावना छवि संस्कृत मुक्तक काव्यों पर अंकित है।

काव्य का प्रयोजन

राजशेखर ने कविचर्या के प्रकरण में बताया है कि कवि को विद्याओं और उप-विद्याओं की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। व्याकरण, कोश, छन्द, और अलंकार - ये चार विद्याएँ हैं। 64 कलाएँ ही उप-विद्याएँ हैं। कवित्व के 8 स्रोत

हैं- स्वास्थ्य, प्रतिभा, अभ्यास, भक्ति, विद्वत्कथा, बहुश्रुतता, स्मृति दृढ़ता और राग।

स्वास्थ्यं प्रतिभाभ्यासो भक्तिर्विद्वत्कथा बहुश्रुतता।
स्मृतिदाढर्यमनिर्वेदश्च मातरोष्टौ कवित्वस्य ।(काव्यमीमांसा)

मम्मट ने काव्य के छः प्रयोजन बताये हैं-

काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।

(काव्य यश और धन के लिये होता है। इससे लोक-व्यवहार की शिक्षा मिलती है। अमंगल दूर हो जाता है। काव्य से परम शान्ति मिलती है और कविता से कान्ता के समान उपदेश ग्रहण करने का अवसर मिलता है।)

काव्य परिभाषा

कविता या काव्य क्या हैं इस विषय में भारतीय साहित्य में आलोचकों की बड़ी समृद्ध परंपरा है– आचार्य विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ, पंडित अंबिकादत्त व्यास, आचार्य श्रीपति, भामह आदि संस्कृत के विद्वानों से लेकर आधुनिक आचार्य रामचंद्र शुक्ल तथा जयशंकर प्रसाद जैसे प्रबुद्ध कवियों और आधुनिक युग की मीरा महादेवी वर्मा ने कविता का स्वरूप स्पष्ट करते हुए अपने-अपने मत व्यक्त किए हैं। विद्वानों का विचार है कि मानव हृदय अनन्त रूपतामक जगत के अनेक रूपों, व्यापारों में भटकता रहता है, लेकिन जब मानव अहम् की भावना का परित्याग करके विशुद्ध अनुभूति मात्र रह जाता है, तब वह मुक्त हृदय हो जाता है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है, उसे कविता कहते हैं। कविता मनुष्य को स्वार्थ सम्बन्धों के संकुचित घेरे से ऊपर उठाती है और शेष सृष्टि से रागात्मक सम्बंध जोड़ने में सहायक होती है। काव्य की अनेक परिभाषाएँ दी गई हैं। ये परिभाषाएं आधुनिक हिंदी काव्य के लिए भी सही सिद्ध होती हैं। काव्य सिद्ध चित्त को अलौकिक आनंदानुभूति कराता है तो हृदय के तार झंकृत हो उठते हैं। काव्य में सत्यं शिवं सुंदरम् की भावना भी निहित होती है, जिस काव्य में यह सब कुछ पाया जाता है वह उत्तम काव्य माना जाता है।

काव्य के भेद

काव्य के भेद दो प्रकार से किए गए हैं–

1. स्वरूप के अनुसार काव्य के भेद और
2. शैली के अनुसार काव्य के भेद

स्वरूप के अनुसार काव्य के भेद

स्वरूप के आधार पर काव्य के दो भेद हैं - श्रव्यकाव्य एवं दृश्यकाव्य।

श्रव्य काव्य

जिस काव्य का रसास्वादन दूसरे से सुनकर या स्वयं पढ़ कर किया जाता है, उसे श्रव्य काव्य कहते हैं। जैसे रामायण और महाभारत।

श्रव्य काव्य के भी दो भेद होते हैं - प्रबन्ध काव्य तथा मुक्तक काव्य।

प्रबंध काव्य

इसमें कोई प्रमुख कथा काव्य के आदि से अंत तक क्रमबद्ध रूप में चलती है। कथा का क्रम बीच में कहीं नहीं टूटता और गौण कथाएँ बीच-बीच में सहायक बन कर आती हैं। जैसे रामचरित मानस।

प्रबंध काव्य के दो भेद होते हैं - महाकाव्य एवं खण्डकाव्य।

1- महाकाव्य इसमें किसी ऐतिहासिक या पौराणिक महापुरुष की संपूर्ण जीवन कथा का आद्योपांत वर्णन होता है। महाकाव्य में ये बातें होना आवश्यक हैं-

महाकाव्य का नायक कोई पौराणिक या ऐतिहासिक हो और उसका धीरोदात्त होना आवश्यक है।

जीवन की संपूर्ण कथा का सविस्तार वर्णन होना चाहिए।

शृंगार, वीर और शांत रस में से किसी एक की प्रधानता होनी चाहिए। यथास्थान अन्य रसों का भी प्रयोग होना चाहिए।

उसमें सुबह शाम दिन रात नदी नाले वन पर्वत समुद्र आदि प्राकृतिक दृश्यों का स्वाभाविक चित्रण होना चाहिए।

आठ या आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए, प्रत्येक सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होना चाहिए तथा सर्ग के अंत में अगले अंक की सूचना होनी चाहिए।

2- खंडकाव्य इसमें किसी की संपूर्ण जीवनकथा का वर्णन न होकर केवल जीवन के किसी एक ही भाग का वर्णन होता है। खंड काव्य में ये बातें होना आवश्यक हैं-

–कथावस्तु काल्पनिक हो।

–उसमें सात या सात से कम सर्ग हों।

–उसमें जीवन के जिस भाग का वर्णन किया गया हो वह अपने लक्ष्य में पूर्ण हो।

–प्राकृतिक दृश्य आदि का चित्रण देश काल के अनुसार और संक्षिप्त हो।

मुक्तक

इसमें केवल एक ही पद या छंद स्वतंत्र रूप से किसी भाव या रस अथवा कथा को प्रकट करने में समर्थ होता है। गीत कवित्त दोहा आदि मुक्तक होते हैं।

दृश्य काव्य

जिस काव्य की आनंदानुभूति अभिनय को देखकर एवं पात्रों से कथोपकथन को सुन कर होती है उसे दृश्य काव्य कहते हैं। जैसे नाटक में या चलचित्र में।

शैली के अनुसार काव्य के भेद

1. पद्य काव्य – इसमें किसी कथा का वर्णन काव्य में किया जाता है, जैसे गीतांजलि।

2. गद्य काव्य – इसमें किसी कथा का वर्णन गद्य में किया जाता है, जैसे जयशंकर की कमायनी। गद्य में काव्य रचना करने के लिए कवि को छंद शास्त्र के नियमों से स्वच्छंदता प्राप्त होती है।

3. चंपू काव्य–इसमें गद्य और पद्य दोनों का समावेश होता है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' चंपू काव्य है।

काव्य का इतिहास

आधुनिक हिंदी पद्य का इतिहास लगभग 800 साल पुराना है और इसका प्रारंभ तेरहवीं शताब्दी से समझा जाता है। हर भाषा की तरह हिंदी कविता भी पहले इतिवृत्तात्मक थी। यानि किसी कहानी को लय के साथ छंद में बांध कर अलंकारों से सजा कर प्रस्तुत किया जाता था। भारतीय साहित्य के सभी प्राचीन ग्रंथ कविता में ही लिखे गए हैं। इसका विशेष कारण यह था कि लय और छंद के कारण कविता को याद कर लेना आसान था। जिस समय छापेखाने का आविष्कार नहीं हुआ था और दस्तावेजों की अनेक प्रतियां बनाना आसान नहीं

था उस समय महत्त्वपूर्ण बातों को याद रख लेने का यह सर्वोत्तम साधन था। यही कारण है कि उस समय साहित्य के साथ-साथ राजनीति, विज्ञान और आयुर्वेद को भी पद्य (कविता) में ही लिखा गया। भारत की प्राचीनतम कविताएँ संस्कृत भाषा में ऋग्वेद में है, जिनमें प्रकृति की प्रशस्ति में लिखे गए छंदों का सुंदर संकलन हैं। जीवन के अनेक अन्य विषयों को भी इन कविताओं में स्थान मिला है।

महाकाव्य

राष्ट्रीय एकता प्रत्येक देश के लिए महत्त्वपूर्ण है। राष्ट्रीय एकता की आधारशिला है सांस्कृतिक एकता और सांस्कृतिक एकता का सबसे प्रबल माध्यम साहित्य की परिधि के अन्तर्गत महाकाव्यों का विशेष महत्त्व है, जिनके बृहत् कलेवर में राष्ट्रीय एकता को प्रभावी रीति से प्रतिफल करने का पूर्ण अवसर रहता है। भारतीय महाकाव्य का आयोजन इसी से प्रेरित होकर किया गया है। इसमें तीन प्राचीन भाषाओं - संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और अंग्रेजी को मिलाकर तेरह आधुनिक भाषाओं के 26 प्रमुख महाकाव्यों का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। काव्य-वस्तु की दृष्टि से महाकाव्य पाँच प्रकार के हैं -

1. रामायण महाकाव्य,
2. महाभारत महाकाव्य,
3. चरितकाव्य,
4. रम्याख्यान और
5. दार्शनिक या प्रतीकात्मक महाकाव्य।

यह कार्य विभिन्न भाषाओं के अधिकारी विद्वानों द्वारा संपन्न हुआ है।

भारत में रामायण और महाभारत अद्यतन महाकाव्यों के उद्‌गम और प्रेरणा के स्रोत रहे हैं। परवर्ती महाकाव्यों की रचना सार्वजनिक वाचक के लिए नहीं, वरन् कलाकृति के रूप में हुई है। इसलिए इन्हें 'कलात्मक महाकाव्य' की संज्ञा देना उपयुक्त होगा। इस वर्ग के महाकाव्यों की भारत में एक सुदीर्घ परंपरा है - जो 'कुमारसंभव' 'रघुवंश' आदि संस्कृत महाकाव्यों से आरंभ होकर आधुनिक भाषाओं में 'कामायनी' तथा 'श्रीरामायण दर्शनम्' आदि तक निरंतर प्रवाहमान है। ललित काव्य की एक विधा का रूप धारण कर महाकाव्य 'साहित्यशास्त्र' का विषय बन गया और आचार्यों ने साहित्य की अन्य विधाओं की भाँति उसे भी

लक्षण बद्ध कर दिया। महाकाव्य संस्कृत काव्यशास्त्र में महाकाव्य का प्रथम सूत्रबद्ध लक्षण आचार्य भामह ने प्रस्तुत किया है और परवर्ती आचार्यों में दंडी, रुद्रट तथा विश्वनाथ ने अपने अपने ढंग से इस लक्षण का विस्तार किया है। आचार्य विश्वनाथ का लक्षण निरूपण इस परंपरा में अंतिम होने के कारण सभी पूर्ववर्ती मतों के सार संकलन के रूप में उपलब्ध है।

महाकाव्य की विशेषताएँ

महाकाव्य की विशेषताएँ सामान्यत: इस प्रकार है-

'महाकाव्य' पद में उपयुक्त 'महा' विशेषण एक ओर उसके महान् कलेवर अर्थात् विपुल-व्यापक आकार और दूसरी ओर उसकी महान् विषय-वस्तु अर्थात् प्रतिपाद्य विषय की गौरव-गरिमा का समान रूप से द्योतन करता है।

आकार की व्यापकता का अर्थ है कि उनमें जीवन का सर्वांग-चित्रण रहता है। प्रभावशाली महापुरुष का जीवन होने के कारण उसका विस्तार अनायास ही संपूर्ण देशकाल तक हो जाता है, अत: महाकाव्य की कथा-परिधि में जीवन के समस्त सामाजिक, राजनीतिक पक्ष एवं आयाम और उनके परिवेश रूप में विभिन्न दृश्यों और रूपों का समावेश रहता है। ये सभी वर्णन साधारण जीवन की क्षुद्रताओं से मुक्त एक विशेष स्तर पर अवस्थित रहते हैं।

महाकाव्य की कथावस्तु एक महान् उद्देश्य से परिचालित होती है। अनेक संघर्षों से गुजरती हुई वह अंतत: महत्तर मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा करती है। इन महत्तर मानव-मूल्यों की प्रतिष्ठा अंतत: जिस घटना के द्वारा होती है, वहीं महाकाव्य का महत्कार्य होता है। महान कार्य की सिद्धि के लिए यह आवश्यक है कि उसका साधक उसके अनुरूप चारित्रक गुणों और शक्तियों से सम्पन हो, अत: महाकाव्य का नायक अथवा केन्द्रीय पात्र असाधारण शक्ति और गुणों से सम्पन्न होता है और ये गुण उसके सहयोगी तथा विरोधी पात्रों में भी विभिन्न अनुपातों में विद्यमान रहते हैं।

उपर्युक्त संसार को वहन करने में समर्थ महाकाव्य की शैली भी स्वभावत: अत्यन्त गरिमा-विशिष्ट होनी चाहिए। इसलिए आचार्यों ने यह अवस्था दी है कि महाकाव्य की शैली साधारण स्तर से भिन्न, क्षुद्र प्रयोगों से मुक्त अलंकृत होनी चाहिए। पाश्चात्य काव्यशास्त्र में यूनानी-रोमी आचार्य लोंजाइनस से प्रेरणा प्राप्त कर अनेक सुधी समीक्षकों ने इस संदर्भ में 'उदात्य तत्त्व' पर विशेष बल दिया गया है, जो महाकाव्य की मूल चेतना को अभिव्यक्ति करने

में अपेक्षाकृत अधिक सक्षम है, अत: उसके आधार पर उदात्त कथानक, उदात्त कार्य अथवा उद्देश्य, उदात्त चरित्र, उदात्त भाव-संपदा और उदात्त शैली को महाकाव्य के मूल तत्त्वों के रूप में रेखांकित किया गया है।

महाकाव्य के लक्षण

विश्वनाथ के अनुसार महाकाव्य का लक्षण इस प्रकार है -

जिसमें सर्गों का निबंधन हो वह महाकाव्य कहलाता है। इसमें क्षत्रिय, जिसमें धीरोदात्तत्वादि गुण हों, नायक होता है। कहीं एक वंश के अनेक सत्कुलीन भूप भी नायक होते हैं। शृंगार , वीर और शांत में से कोई एक अंगी होता है तथा अन्य सभी रस अंग रूप होते हैं। उसमें सब नाटक संधियाँ रहती हैं। कथा ऐतिहासिक अथवा सज्जनाश्रित होती है। चतुर्वर्ग में से एक उसका फल होता है। आरंभ में नमस्कार, आशीर्वाद या वर्ण्य वस्तु निर्देश होता है। कहीं खलों की निंदा तथा सज्जनों का गुणकथन होता है। न अत्यल्प और न अतिदीर्घ अष्टाधिक सर्ग होते है, जिनमें से प्रत्येक की रचना एक ही में की जाती है और सर्ग के अंत में छंद परिवर्तन होता है। कहीं-कहीं एक ही सर्ग में अनेक छंद भी होते हैं। सर्ग के अंत में आगामी कथा की सूचना होनी चाहिए। उसमें संध्या, सूर्य, चंद्रमा, रात्रि, प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रात:काल, मध्यह मृगया, पर्वत, ऋतु, वन, सागर, संयोग, विप्रलंभ, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, संग्राम, यात्रा और विवाह आदि का यथासंभव सांगोपांग वर्णन होना चाहिए। आचार्य विश्वनाथ का उपर्युक्त निरूपण महाकाव्य के स्वरूप की वैज्ञानिक एवं क्रमबद्ध परिभाषा प्रस्तुत करने के स्थान पर उसकी प्रमुख और गौण विशेषताओं का क्रमहीन विवरण उपस्थित करता है। इसके आधार पर संस्कृत काव्यशास्त्र में उपलब्ध महाकाव्य के लक्षणों का सार इस प्रकार किया जा सकता है-

कथानक

महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक अथवा इतिहासाश्रित होना चाहिए।

विस्तार - कथानक का कलेवर जीवन के विविध रूपों एवं वर्णनों से समृद्ध होना चाहिए। ये वर्णन प्राकृतिक, सामाजिक, और राजनीतिक क्षेत्रों से इस प्रकार संबंद्ध होने चाहिए कि इनके माध्यम से मानव जीवन का पूर्ण चित्र उसके संपूर्ण वैभव, वैचित्र्य एवं विस्तार के साथ उपस्थित हो सके। इसीलिए उसका आयाम विस्तृत होना चाहिए।

विन्यास –

कथानक की संघटना नाट्य संधियों के विधान से युक्त होनी चाहिए अर्थात् महाकाव्य के कथानक का विकास क्रमिक होना चाहिए। उसकी आधिकारिक कथा एवं अन्य प्रकरणों का पारस्परिक संबंध उपकार्य–उपकारक–भाव से होना चाहिए तथा इनमें औचित्यपूर्ण पूर्वापर अन्विति रहनी चाहिए।

कुमारसम्भव

नायक –

महाकाव्य का नायक देवता या सदृश क्षत्रिय हो, जिसका चरित्र धीरोदात्त गुणों से समन्वित हो– अर्थात् वह महासत्त्व, अत्यंत गंभीर, क्षमावान् अविकत्थन, स्थिरचरित्र, निगूढ़, अहंकारवान् और दृढ़वान् होना चाहिए। पात्र भी उसी के अनुरूप विशिष्ट व्यक्ति, राजपूत्र, मुनि आदि होने चाहिए।

रस –

महाकाव्य में शृंगार , वीर, शांत एवं करुण में से किसी एक रस की स्थिति अंगी रूप में तथा अन्य रसों की अंग रूप में होती है।

फल –

महाकाव्य सद्धत होता है अर्थात् उसकी प्रवृत्ति शिव एवं सत्य की ओर होती है और उसका उद्देश्य होता है चतुवर्ग की प्राप्ति।

शैली –

शैली के संदर्भ में संस्कृत के आचार्यों ने प्राय::। अत्यंत स्थूल रूढ़ियों का उल्लेख किया है – उदाहरणार्थ एक ही छंद में सर्ग रचना तथा सर्गांत में छंद परिवर्तन, अष्टाधिक सर्गों में विभाजन, नामकरण का आधार आदि। परंतु महाकाव्य के अन्य लक्षणों के आलोक में यह स्पष्ट ही है, कि महाकाव्य की शैली नानावर्णन क्षमा, विस्तारगर्भा, श्रव्य वृत्तों से अलंकृत, महाप्राण होनी चाहिए। आचार्य भामह ने इस भाषा को सालंकार, अग्राम्य शब्दों से युक्त अर्थात् शिष्ट नागर भाषा कहा है।

पाश्चात्य विद्वानों के अनुसार

रामायण

महाकाव्य के जिन लक्षणों का निरूपण भारतीय आचार्यों ने किया, शब्दभेद से उन्हीं से मिलती-जुलती विशेषताओं का उल्लेख पश्चिम के आचार्यों ने भी किया है। अरस्तु ने त्रोसदी से महाकाव्य की तुलना करते हुए कहा है कि 'गीत एवं दृश्यविधान के अतिरिक्त दोनों के अंग भी समान ही हैं।' अर्थात् महाकाव्य के मूल तत्त्व चार हैं -

1. कथावस्तु,
2. चरित्र,
3. विचारतत्त्व और
4. पदावली।

कथावस्तु

कथावस्तु के संबंध में उनका मत है किमहाकाव्य की कथावस्तु एक ओर शुद्ध ऐतिहासिक यथार्थ से भिन्न होती है ओर दूसरी ओर सर्वथा काल्पनिक भी नहीं होती। वह प्रख्यात होनी चाहिए, और उसमें यथार्थ से भव्यतर जीवन का अंकन होना चाहिए।

कथावस्तु का आयाम विस्तृत होना चाहिए, जिसके अंतर्गत विविध उपाख्यानों का समावेश हो सके। 'उसमें अपनी सीमाओं का विस्तार करने की बड़ी क्षमता होती है' क्योंकि त्रोसदी की भांति वह रंगमंच की देशकाल संबंधी सीमाओं में परिबद्ध नहीं होता। उसमें अनेक घटनाओं का सहज समावेश हो सकता है, जिससे एक ओर काव्य को घनत्व और गरिमा प्राप्त होती है और दूसरी ओर अनेक उपाख्यानों के नियोजन के कारण रोचक वैविध्य उत्पन्न हो जाता है।

किंतु कथानक का यह विस्तार अनियंत्रित नहीं होना चाहिए। उसमें एक ही कार्य होना चाहिए जो आदि मध्य अवसान से युक्त एवं स्वत: पूर्ण हो। समस्त उपाख्यान इसी प्रमुख कार्य के साथ संबंद्ध और इस प्रकार से गुंफित हों कि उनका परिणाम एक ही हो।

इसके अतिरिक्त त्रोसदी के वस्तु संगठन के अन्य गुण -पूर्वाप्रक्रम, संभाव्यता तथा कौतूहल -- भी महाकाव्य में यथावत् विद्यमान रहते हैं। उसकी परिधि में अद्‌भुत एवं अतिप्राकृत तत्त्व के लिये अधिक अवकाश रहता है और

कौतूहल की संभावना भी महाकाव्य में अपेक्षाकृत अधिक रहती है। कथानक के सभी कौतूहलवर्धक अंग, जैसे-स्थितिविपर्यय, अभिज्ञान, संवृति और विवृति, महाकाव्य का भी उत्कर्ष करते हैं।

पात्र -

महाकाव्य के पात्रों के संबंध में अरस्तु ने केवल इतना कहा है कि 'महाकाव्य और त्रोसदी में यह समानता है कि उसमें भी उच्चतर कोटि के पात्रों की पद्यबद्ध अनुकृति रहती है।' त्रोसदी के पात्रों से समानता के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि महाकाव्य के पात्र भी प्रायः। त्रोसदी के समान भद्र, वैभवशाली, कुलीन और यशस्वी होने चाहिए। रुद्रट के अनुसार महाकाव्य में प्रतिनायक और उसके कुल का भी वर्णन होता है।

प्रयोजन और प्रभाव -

कामायनी

अरस्तु के अनुसार महाकाव्य का प्रभाव और प्रयोजन भी त्रोसदी के समान होना चाहिए, अर्थात् मनोवेगों का विरेचन, उसका प्रयोजन और तज्जन्य मनःशांति उसका प्रभाव होना चाहिए। यह प्रभाव नैतिक अथवा रागात्मक अथवा दोनों प्रकार का हो सकता है।

भाषा, शैली और छंद -

अरस्तु के शब्दों में महाकाव्य की शैली का भी 'पूर्ण उत्कर्ष यह है कि वह प्रसन्न (प्रसादगुण युक्त) हो किंतु क्षुद्र न हो।' अर्थात् गरिमा तथा प्रसादगुण महाकाव्य की शैली के मूल तत्त्व हैं, और गरिमा का आधार है असाधारणता। उनके मतानुसार महाकाव्य की भाषा शैली त्रोसदी की करुणमधुर अलंकृत शैली से भिन्न, लोकातिक्रांत प्रयोगों से कलात्मक, उदात्त एवं गरिमा वरिष्ठ होनी चाहिए।

वीर छंद के प्रयोग पर बल

महाकाव्य की रचना के लिये वे आदि से अंत तक एक ही छंद - वीर छंद, के प्रयोग पर बल देते हैं, क्योंकि उसका रूप अन्य वृत्तों की अपेक्षा अधिक भव्य एवं गरिमामय होता है, जिसमें अप्रचलित एवं लाक्षणिक शब्द बड़ी सरलता

से अंतर्भुक्त हो जाते हैं। परवर्ती विद्वानों ने भी महाकाव्य के विभिन्न तत्त्वों के संदर्भ में उन्हीं विशेषताओं का पुनराख्यान किया है, जिनका उल्लेख आचार्य अरस्तु कर चुके थे। वीरकाव्य (महाकाव्य) का आधार सभी ने जातीय गौरव की पुराकथाओं को स्वीकार किया हैं। जॉन हैरिंगटन वीरकाव्य के लिये ऐतिहासिक आधारभूमि की आवश्यकता पर बल देते हैं और स्पेंसर वीरकाव्य के लिये वैभव और गरिमा को आधारभूत तत्त्व मानते हैं। फ्रांस के कवि आलोचकों पैलेतिए, वोकलें और रोनसार आदि ने भी महाकाव्य की कथावस्तु को सर्वाधिक गरिमय, भव्य और उदात्त करते हुए उसके अंतर्गत ऐसे वातावरण के निर्माण का आग्रह किया है, जो क्षुद्र घटनाओं से मुक्त एवं भव्य हो।

महाकाव्य के मूल तत्त्व

भारतीय और पाश्चात्य आलोचकों के उपर्युक्त निरूपण की तुलना करने पर स्पष्ट हो जाता है कि दोनों में ही महाकाव्य के विभिन्न तत्त्वों के संदर्भ में एक ही गुण पर बार-बार शब्दभेद से बल दिया गया है और वह है भव्यता एवं गरिमा, जो औदात्य से अंग हैं। वास्तव में, महाकाव्य व्यक्ति की चेतना से अनुप्राणित न होकर समस्त युग एवं राष्ट्र की चेतना से अनुप्राणित होता है। इसी कारण उसके मूल तत्त्व देशकाल सापेक्ष न होकर सार्वभौम होते हैं, जिनके अभाव में किसी भी देश अथवा युग की कोई रचना महाकाव्य नहीं बन सकती और जिनके सद्भाव में, परंपरागत शास्त्रीय लक्षणों की बाधा होने पर भी, किसी कृति को महाकाव्य के गौरव से वंचित करना संभव नहीं होता।

3

हिन्दी का समकालीन साहित्यिक परिदृश्य

हिन्दी के समकालीन साहित्यिक परिदृश्य का ईमानदार विश्लेषण , उसकी सृजनशीलता को दुष्प्रभावित करने वाले ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को सही ढंग से समझे बिना संभव ही नहीं है। हिन्दी जाति के अपने यथार्थ के अनुसार उसकी सृजनात्मक समस्याएं और चुनौतियां क्या हैं ? किन सामाजिक-ऐतिहासिक कारणों से हिन्दी का लेखक वैश्विक धरातल पर कोई बड़ी साहित्यक कृति देने में अब तक असफल रहा है ? वे कौन से सामूहिक एवं सापेक्षिक भटकाव हैं, जिनके कारण विकास के अपेक्षाकृत अपने छोटे से काल में अनेक प्रायोजित वाद और विवाद पैदा करके भी वैश्विक धरातल पर कोई भी महत्त्वपूर्ण सृजनात्मक चुनौती देने में हिन्दी जगत प्रायः। असमर्थ रहा है? आत्म-मूल्यांकन की प्रक्रिया में ऐसे बहुत से प्रश्न सामने आ सकते हैं। कुछ ऐसे भी कि 'क्या यह सच नहीं है कि पूर्व में भी आधुनिक हिन्दी कविता का स्वर्ण युग कहे जाने वाले छायावाद के कवियों की भरपूर प्रशंसा भी हम उनके प्रभाव कों जैसे रवीन्द्रनाथ टैगोर, शेली, कीटस आदि का नाम छिपाकर ही कर पाते हैं ! क्या यह सच नहीं है कि जोखिम से बचने एवं जातीय सुरक्षा पाने की अभ्यस्त हिन्दी जाति और उसके सम्पादक, अपने लेखकों से प्रायः बिरादराना प्रभाव एवं अनुशासन में लिखी गयी रचनाओं की ही मांग करते हैं ?

क्या यह एक ईमानदार तथ्य नहीं है कि पश्चिम की तरह हिन्दी में सृजन की सामाजिकता को, मात्र स्कूल बनाने की प्रवृत्ति के रूप में ही नहीं देखा जा सकता! पश्चिम की मौलिक सृजनशीलता से अलग हिन्दी का साहित्यक समाज 'जातीय(समूह-अनुमोदित) रचनाधर्मिता को ही अचेतन रूप से बढ़ावा देता रहा है। स्पष्ट रूप से यहाँ मेरा आशय डा. रामविलास शर्मा की हिन्दी जाति से नहीं है, बल्कि मौलिक एवं विशिष्ट सृजन की विरोधी सर्वमान्य-सामान्य को सृजित करने के उस अघोषित मनोवैज्ञानिक दबाव से है, जिसके कारण हर नए लेखक को अपनी ही तरह का नहीं लिखना पड़ता है बल्कि वैसा कुछ लिखना पड़ता है, जैसा लिखना दूसरों को बदलने की अधिक चुनौती न देता हो और जैसा लिखने पर लिखे हुए की स्वीकृति की संभावनाएं बढ़ जाती है। इस प्रवृत्ति की व्याख्या बाजार के मांग एवं पूर्ति के नियम से भी नहीं की जा सकती है, क्योंकि यह सृजन की सामाजिक अनुकूलता यानि दूसरों जैसा होने की होड़ को प्रोत्साहित करती प्रतीत होती है। हजारों वर्षों से प्राप्त जाति-जीवी होने का संस्कार हिन्दी सृजनशीलता को पूर्ण मौलिक विकल्प की खोज करने ही नहीं देता। इसे और स्पष्ट करते हुए कहें तो प्रकाशित होने और समर्थन पाने के अचेतन मानसिक दबाव में हम वैसा कुछ भी नहीं लिख और रच सकते, जो हिन्दी बिरादरी के संस्कार, सोच और मुहावरे से बाहर की उपस्थिति हो।

इस तरह अपनी रूढिवादी पृष्ठभूमि और पारम्परिक संस्कार के कारण, जाति में जीवित और सुखी रह पाने के अपने अचेतन असुरक्षा बोध के कारण हिन्दी मनीषा बहुत जल्दी ही जाति बनाने लग जाती है। उसका अधिकांश लेखन तर्ज की मर्ज का शिकार है। हिन्दी में ऐसी कई पत्रिकाएं हैं, जिनके स्व-नामधन्य सम्पादकों की कृति-आस्वाद की आदतें एवं उनके मानक तीस वर्षों से भी नहीं बदले । ऐसी पत्रिकाओं ने अपने प्रभाव-क्षेत्र के लेखकों और उनके लेखन से प्रभावित होकर पढ़ती-लिखती आ रही परवर्ती पीढ़ी को कुछ इस प्रकार अपनी रुचि, सोच, पसन्द-नापसन्द, स्वीकार-अस्वीकार की निजी बौद्धिक सीमा में नियंत्रित और निर्देशित किया है कि हर पत्रिका और उसके द्वारा प्रकाशित साहित्य अपने अनुप्रभावित लेखक-समूह के साथ एक अलग जातीय स्कूल में बदल गए हैं।

हिन्दी पाठकों और लेखकों को सृजन की पृष्ठभूमि के रूप में प्राप्त सामाजिक यथार्थ को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो उन्नीसवीं शताब्दी के औद्योगिक क्रांति से लेकर, बीसवीं शताब्दी के कम्प्यूटर क्रांति तक, उसके

अर्थ-तन्त्र एवं समाज नें स्वरूप बदला है। व्यापक उपभोक्ता वर्ग तक पहुंचने के लिए विकसित विपणन तन्त्र ने मजदूरों को कारखानों से निकालकर सर्विस सेन्टरों एवं शोरूमों के प्रशिक्षित कर्मचारियों एवं कुलियों में बदल दिया है। आधुनिक आटोमेटिक मशीनों ने कारखानों से मजदूरों की भीड़ को बाहर कर दिया है। अब उनके लिए सेल्समैन की भूमिका ही बची है। पूँजीपतियों की गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा और उपभोक्ताओं को आकर्षित करने अर्थ-युद्ध के बीच अतिरिक्त मूल्य एक काल्पनिक अवधारणा बन गयी है और उसके स्थान पर मध्यवर्गीय जीवन को पालने में सहायक विनिमय मूल्य एवं दलाल संस्कृति निर्णायक प्रमाणित हुई है। इस सैद्धान्तिक अन्तर्विरोध से आंखे चुराते हुए भारतीय वामपन्थ पहले भारतीय किसानों की ओर बढ़ा फिर बढ़ती हुई जनसंख्या और बंटती जमीनों के यथार्थ से पलायन कर वन-विभाग सम्बन्धी कानूनों से भूमि के सरकारी अधिग्रहण के विरुद्ध उपजे असन्तोष को हवा देने के लिए जंगलों की ओर निकल गया। एक समग्र एवं आदर्श साम्यवादी व्यवस्था और समाज के निर्माण में आने वाली चुनौतियों से मुँह चुराते हुए, वैश्विक एवं औद्योगिक पूँजीवाद से बचते-बचाते भारत में सर्वहारा की खोज आदिवासियों को वामपन्थ में दीक्षित करने के रूप में पूरी हुई है या बनते हुए बाधों से हुए विस्थापितों के पुनर्वास की चिन्ता और संघर्ष के रूप में। भारतीय सामाजिक यथार्थ और उसके बुद्धिजीवियों के ऐसे ही कुछ वैचारिक सीमान्त है।

सच तो यह है कि बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हिन्दी का साहित्यकार, गांधीवाद और मार्क्सवाद की आदर्शवादिता से प्रभावित रहने के कारण वस्तुनिष्ठ हो ही नहीं पाता है। वह किसी नए प्रस्थान के लिए असमर्थ, पराश्रित और मोहाच्छन्न है। उस समय तक जाति और सम्प्रदाय जैसी समस्याओं कों विमर्श का विषय बनानें में वह अपनी हेठी समझता है। कुटुम्बीय परिवार की पृष्ठभूमि तथा जातीय समाज की मनोरचना के कारण, स्त्री-स्वातन्त्र्य एवं विमर्श का पाश्चात्य स्वरूप यहाँ आ ही नहीं सका, क्योंकि आर्थिक वर्गान्तरण से जातीय वर्गान्तरण, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक जटिल और संघर्षपूर्ण सामाजिक प्रक्रिया है। पश्चिम में जाति से अधिक कुलीनता-अकुलीनता की अवधारणा नें वर्गान्तर किया है। इसलिए वर्ग-विभाजन का आर्थिक आधार ही उनके लिए पर्याप्त था, इसके अतिरिक्त अपनी पिरामिडीय संरचना के कारण पूँजीवादी व्यवस्था का अधिकार-तन्त्र निम्न स्तरीय एवं अकुशल व्यक्तियों को भी शोषण के बावजूद उनका इस्तेमाल करते हुए उन्हें संरक्षित भी करता था, संभवतः जटिल विकास

के इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से बचने के लिए भारतीय वामपन्थ नें वन-विभाग से शोषितों के रूप में आदिवासियों एवं जनजातियों की खोज की। हिन्दी के अधिकांश प्रगतिशील साहित्यकार, भारतीय वामपन्थ के विकास ,शोषण एवं संघर्ष की मुख्य भूमि को छोड़कर, सशस्त्र संघर्ष के बावजूद नक्सलवाद की वैचारिक पलायनवादिता को सृजन एवं विचार की चुनौती के रूप में देखते ही नहीं।

अपनी भोली-ईमानदार प्रतिबद्धता एवं संवेदनशीलता के साथ हिन्दी में मार्क्सवादी सिद्धान्तों और वामपन्थी क्रांति के सपनों पर आधारित प्रगतिशील साहित्य एक ऐतिहासिक सच्चाई है, लेकिन इस सच्चाई ने जिस प्रतिगामी साहित्यक सच्चाई को जन्म दिया है, वह है सामाजिक यथार्थ का साहित्यक यथार्थ में रूपान्तरण न कर पाने की विफलता। एक अवरुद्ध समाज अपने यथार्थ को देर तक परिवर्तित नहीं कर पाता। ऐसे में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के कथाकार प्रेमचन्द का, इक्कीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक प्रासंगिक बने रहना, उनकी प्रतिभा की महानता को जितना प्रमाणित करता है, उससे अधिक भारतीय समाज के अवरूद्ध यथार्थ की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करता है। हिन्दी क्षेत्र के अपरिवर्तित यथार्थ नें उसके बहुआयामी साहित्यक उपयोग की सम्भावना को सीमित किया है। यदि कथा-साहित्य को लें तो यथार्थ की अपरिवर्तनीयता नें लम्बे समय से हिन्दी की कथात्मक सृजनशीलता को औसत और आवृत्तिपरक बनाए रखा है। लम्बे समय तक कुंठित यथार्थ के चित्रण से हिन्दी के पाठकों एवं लेखकों का बौद्धिक अन्तराल घट रहा है। लेखक ऐसा नहीं लिख पा रहा है कि उसका लिखा पाठक को पढ़ने की चुनौती दे। वास्तविक घटनाएं जो लिखित रूप में ही समाचार-पत्रों और दृश्य मीडिया के माध्यम से पहुंचती हैं, वह तेजी से बढ़ते विकास के साथ अधिक लोमहर्षक और अविश्वसनीय होती जाती हैं। आखिर समकालीन यथार्थ भी समकालीन समाज के मनुष्यों की सामूहिक सृजनशीलता का परिणाम अर्थात् मानवीय उत्पाद ही है, चाहे वह अपराध या भ्रष्टाचार ही क्यों न हो !

सैद्धान्तिक दृष्टि से साहित्यक सृजनशीलता भी अनुपस्थित को उपस्थित करने की कला है और इस प्रकार कोई भी सृजन सदैव ही पृष्ठभूमि का अतिक्रमण है। वह वर्तमान के यथार्थ का उपयोग करते हुए भी उपलब्ध वर्तमान का अतिक्रमण है। वह चाहे आदर्शपरक हो या यथार्थपरक सृजित यथार्थ सदैव ही मनुष्य की चेतना द्वारा पूर्व यथार्थ के अतिक्रमण के रूप में घटित होता है।

यह अतिक्रमण न घटित कर पाने के कारण ही हिन्दी में प्रकाशित यथार्थवादी कहानियों की एक बड़ी संख्या अपने समकालीन यथार्थ की भाषिक अभिव्यक्ति मात्र हैं। वे सामाजिक यथार्थ का साहित्यक यथार्थ में सफल रूपान्तरण नहीं कर पातीं ,क्योंकि साहित्यक यथार्थ एक सृजित यथार्थ होता है।

अपने समकालीन यथार्थ का साहित्यक सृजनशीलता में भी अतिक्रमण न कर पाने की अपनी ऐतिहासिक एवं प्रवृत्तिगत सीमाओं तथा विशुद्ध भारतीय शैली के बिरादराना चयन के बावजूद, व्यावसायिक दबाव न होने से लघु पत्रिकाओं नें कई मौलिक एवं प्रयोगधर्मी रचनाएं भी प्रकाशित कीं। उनमें सच को और निर्भयता से प्रस्तुत करने का गैर-व्यावसायिक साहस भी दिखा, लेकिन, यह भी सच है कि हर दौर में लघु पत्रिकाओं के सम्पादकों में एक बड़ी संख्या साहित्यकार बनने के अभिलाषी नवोदित साहित्यकारों की ही रही है। स्वयं साहित्यकार न होते हुए भी ऐसे सम्पादक साहित्यक रचनाओं के लिए मेजबान की भूमिका में थे। एक देश द्वारा दूसरे देश को मान्यता देने की शैली में-दूसरी साहित्यक लघु-पत्रिकाओं को अपने साथ नाम-पते विज्ञापित करने की अच्छी प्रथा नें हिन्दी में लघु-पत्रिकाओं के आन्दोलन को एक लोकतांत्रिक साहित्यक संस्कृति का निर्माता बना दिया। लघु-पत्रिकाओं ने नवोदित साहित्यकारों के लिए न सिर्फ आरम्भि मंच उपलब्ध कराया बल्कि उनके प्रशिक्षण-केन्द्र के रूप में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। इसी साहित्यक परिदृश्य का एक दूसरा पहलू यह है कि सम्पादकीय दृष्टिहीनता के कारण हिन्दी का साहित्यक परिदृश्य सामान्य रचनाओं से पट गया है। स्थगित सामाजिक यथार्थ से टकराते-टकराते हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य और साहित्यकार भी स्थगित साहित्यक यथार्थ का निर्माता और चितेरा बन गया है। उसके द्वारा सृजित कथा-वस्तु, उठाई गई समस्याएं और विचार सभी कुछ पुनरावर्ती हो गए हैं।

व्यावसायिक पूँजी के दबाव से मुक्त होने के कारण, हिन्दी की लघु-पत्रिकाओं नें समानान्तर सिनेमा की तरह ही एक समानान्तर साहित्यक पाठक-वर्ग भी पैदा किया है। अलग-अलग ग्रहों को केन्द्र में रखकर जैसे अन्तरिक्षीय पदार्थ एकत्रित होकर अनेक सूर्य बना देते हैं य हिन्दी के अनेक प्रतिभाशाली साहित्यकारों के नाम से जुड़ी साहित्यक पत्रिकाएं अपना नियमित पाठकवर्ग एवं आर्थिक संसाधन विकसित कर चुकी हैं। उनसे जुड़े साहित्यकार एवं प्रशंसक भी उनकी ताकत हैं। कुछ साहित्यक पत्रिकाएं तो लेखकों का अलग स्कूल ही बना रही हैं। इसे स्थानीयता का प्रभाव कहें या आंचलिकता का

– हिन्दी की कई पत्रिकाओं नें निजी लेखक टीम विकसित कर ली है। ऐसी पत्रिकाओं ने अपने पाठकों को भी विशेषीकृत किया है। मनोविज्ञान का एक निष्कर्ष है कि जुड़वा बालकों का सही विकास नहीं होता क्योंकि वे एक–दूसरे का ही अनुकरण करते रह जाते हैं। किसी तीसरे के प्रति बिल्कुल उदासीन रहने के कारण कुछ नया नहीं सीख पाते । हिन्दी की अनेक साहित्यक पत्रिकाओं ने भी प्रायोजित लेखन का शिकार होकर अपने अलग वैचारिक साहित्यक पूर्वाग्रह विकसित कर लिए हैं। साहित्य के इतिहास पर चढ़ाई करने वाले अलग साहित्यक गिरोह के रूप में सम्पादकीय आत्मश्लाधा एवं महत्त्वपूर्ण होने के भ्रम के साथ सिर्फ वार्द्धक्य ही नहीं, बल्कि मौलिक एवं नई सृजनशीलता की दृष्टि से मृत्यु की ओर भी बढ़ रही हैं। इसे हिन्दी का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि उसकी शीर्ष साहित्यक पत्रिकाएं भी किसी दल या व्यक्ति–विशेष का साहित्यक 'फ्रंट नजर आने लगी हैं। निजी जीवन में चरित्रहीनता के आरोपों का सामना कर रहे कुछ सम्पादकों नें तो किसी अन्धे–बहरे की तरह व्यापक साहित्यिक समाज और सरोकारों से स्वयं को काट लिया है। वे अपने ऊपर लगे आरोपों के मानसिक प्रतिरोध में निर्लज्ज, असंवादी, सीमित, संकीर्ण एवं असामान्य हो गए हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि भारतीय राजनीति की सभी बुराइयों के प्रतिनिधि व्यवहार, हिन्दी–साहित्य की रचनाधर्मिता और विकास के परिदृश्य को भी विद्रूपित कर रहे हैं।

एक सीमा तक हिन्दी–साहित्य के वर्तमान परिदृश्य को, उसके राजनीतिक यथार्थ का ही साहित्यक रूपक कहा जा सकता हैं। यथार्थ की अनुकूल या प्रतिकूल सृजनात्मक सम्भावनाओं पर विचार करने के स्थान पर उसका साहित्यकार प्रायः अपने समकालीन इतिहास और यथार्थ का साहित्यक रूपान्तरण प्रस्तुत करता है। इससे उसके लेखन में मानवीय सृजनशीलता के अन्य आयाम नहीं उभर पाते । उसका अधिकांश साहित्य सम्पूर्ण मानव–जाति के नाम सृजित ,सम्बोधित और सम्प्रेषित भी नहीं है। वह कुछ प्रतिष्ठित व्यक्तियों के नाम सम्बोधित निजी पत्र बनकर रह गया है। कभी–कभी ऐसा लगता है कि हिन्दी का साहित्यकार जिन मूल्यांकन–मानों की कल्पना कर साहित्य सृजित करता है, उसकी हैसियत मात्र एक स्कूल की ही है। एक आंचलिक या क्षेत्रीय सच्चाई की तरह उसके साहित्यक समाज नें सराहना और समीक्षा के नाम पर मूल्यांकन–मान के रूप में जो फतवे जारी किए है–वे काफी बचकाने अथवा नीरस है।

हिन्दी-साहित्य में भी वर्चस्व और प्रभुत्त्व के कांग्रेसनुमा सत्ता-केन्द्रों के साथ , अनेक क्षेत्रीय शक्तियां और क्षत्रप काबिज हो गए हैं या काबिज होने का प्रयास कर रहें हैं। कुछ पुराने उजड़े हुए साहित्यक-केन्द पुन:रू संगठित हो रहे है। कई प्रतिष्ठित साहित्यकारों ने अपनी उपेक्षा से आहत मन की प्रतिक्रिया में साहित्यक पत्रिकाएं निकाल ली हैं। हिन्दी का साहित्यक चरित्र भारतीय राजनीति के चरित्र का ही अनुकरण करता प्रतीत होता है। जिस प्रकार नेहरू और शास्त्री के बाद आपात काल के कांग्रेस नें सत्ता और इतिहास को बन्धक बनाने के प्रायोजित प्रयास में , काल-पात्र गड़वाने से लेकर प्रतिभा-नियोजन के लिए पार्टी से योग्यों का निष्कासन किया -व्यक्तित्त्व और चरित्र से हीन चाटुकारों को मुख्यमंत्री बनाकर जनता के ऊपर थोपने का असफल एवं आत्मघाती प्रयास किया और जिसका ही प्रतिक्रियात्म्क परिणाम यह हुआ कि तिरस्कृत-निष्कासित प्रतिभाओं ने अलग पार्टी ही बना ली और आगे चलकर मुख्यमंत्री और प्रधानमंत्री तक बने । इतिहास और सत्ता का मुख्य राजमार्ग साजिशन बन्द कर दिए जाने से समर्थ प्रतिभाओं ने स्वतंत्रता,प्रतिरोध और विकल्प के लिए क्षेत्रीय पार्टियां बनायीं । कुछ-कुछ वैसा ही -व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षा,राग-द्वेष,उपेक्षा तथा स्थापन-विस्थापन के भितरघातों के प्रतिक्रियात्मक सन्तुलन नें हिन्दी के साहित्यक परिदृश्य को बहुवैकल्पिक एवं विविधतापूर्ण बना दिया है।

इस रूढ़िवादी देश में जैसे आजादी के पूर्व कुछ ही नेताओं ने मिलकर भारत-पाकिस्तान के रूप में कई करोड़ भारतीयों का भविष्य और वर्तमान बिगाड़ दिया ,वैसे ही हिन्दी के साहित्यक इतिहास को कुछ गिने-चुने वर्चस्वशाली मस्तिष्क ही बना-बिगाड़ और बांट रहे हैं। सम्बन्धों एवं रुचियों पर आधारित उनकी स्मृतियां एवं उनका प्रायोजित चयन ही हिन्दी साहित्य के मानक इतिहास के रूप में विज्ञापित हो रहा है। इधर इस आरोप का प्रतिपक्ष भी देखने में आ रहा है -स्कूलों और विश्वविद्यालयों तक के पाठयक्रमों में गैर-मानक साहित्य और साहित्यकारों की अराजक प्रविष्टि के रूप में। लघु पत्रिकाओं की बढ़ती हुई संख्या के पीछे साहित्य में सक्रिय प्रायोजित सृजनशीलता तथा वर्चस्व के यथार्थ से असहमत साहित्यक विपक्ष और प्रतिरोध की समानान्तर साहित्यक संस्कृति के निर्माण का संघर्ष भी है।

'समकालीन सोच के प्रवेशांक (जून 1989) में व्यक्त डा0 पी0एन0सिंह की इस विचारपूर्ण समझ का विस्तार करना भी हिन्दी समाज और साहित्य के विश्लेषण में सहायक होगा कि 'अभी हमारी सामाजिक चित्ति मुख्यत:

मध्ययुगीन है,जिसमें आदिम अवशेषों की भी कमी नहीं है। हमारा वैज्ञानिक और ऐतिहासिक ज्ञान हमारी सामाजिक चेतना एवं आचरण की वस्तु नहीं है, अभी यह मात्र सूचना की चीज है। हमारे वैज्ञानिक एवं विद्वान सामाजिक संवेदना के स्तर पर अपढ़ हैं। हमारे यहाँ शास्त्राज्ञों का नहीं, बल्कि बुद्धिधर्मियों का हमेशा अभाव रहा है। इस अभाव की पूर्ति हिन्दी समाज अन्तर्निभरता और अन्तर्सहमति से करता है। उसके जातीय या प्रवृत्तिपरक सृजनधर्मिता का राज भी यही है। इसके कारण ही वह प्राय: प्रतिभा-स्वातंत्र्य को एक विजातीय एवं विपक्षी तत्त्व के रूप में देखता है। नए लेखकों को एक पूर्वनिर्धारित ट्रैक पर चलकर आने का अग्रिम प्रस्ताव भेजता है। लेखन में नव-रीतिवादी आवृत्ति की परिस्थितियां पैदा करता है।

इस जड़ता को तोड़ने के लिए सभ्यता के विकास-क्रम में सामने आयीं अद्यतन सूचनाओं को हिन्दी के आम लेखकों-पाठकों तक उपलब्ध कराने की जरूरत है। अधिक से अधिक विदेशी साहित्य को हिन्दी भाषा में उपलब्ध कराने की भी जरूरत है। हिन्दी के ऐसे साहित्यक परिदृश्य पर यह सुझावपरक टिप्पणी की जा सकती है कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उच्च स्तरीय पाठ्य-सामग्री सर्वसुलभ न होने के कारण हिन्दी मनीषा के सृजनात्मक उत्पाद भी किसी अपढ़ एवं अप्रशिक्षित मस्तिष्क की उपज की तरह सामने आते हैं। क्योंकि सामाजिक यथार्थ के साहित्यक यथार्थ एवं कृति में रूपान्तरण की प्रक्रिया रचनाकार के बौद्धिक श्रम ,सोच , दृष्टि एवं ज्ञान के समन्वय के पश्चात ही किसी विशिष्ट कृति के सृजन के रूप में पूरी हो पाती है।

हिन्दी के साहित्यिक परिदृश्य के समाज-वैज्ञानिक विश्लेषण के लिए हिन्दी सिनेमा से उधार लिए गए व्यावसायिक और समानान्तर जैसे शब्दों से बेहतर विशेषण मुझे दूसरे नहीं दीखते। व्यावसायिक के स्थान पर लोकप्रिय शब्द का भी प्रयोग किया जा सकता है, लेकिन, हिन्दी में भारतेन्दु, देवकीनन्दन खत्री ,प्रेमचन्द, दुष्यन्त और हरिवंशराय बच्चन जैसे गिने-चुने लेखकों को छोड़कर किसी को लोकप्रिय साहित्यकार कहना भी इस शब्द का अपमान करना ही होगा व्यावसायिकता से मेरा प्रयोजन पेशेवर रूप से प्रायोजित साहित्य से है। लोकप्रिय में प्रभावी नेतृत्त्व उपभोक्ता या पाठक वर्ग का रहता है जबकि व्यावसायिक में व्यवसायी का-यद्यपि वह अपनी सारी रीति एवं नीति उपभोक्ता या पाठक को केन्द्र में रखकर ही बनाता है, लेकिन बाजार पर निर्भर रहने के कारण प्राय: पाठक वर्ग उसकी सृजनशीलता एवं श्रम पर आश्रित तथा प्रतीक्षा में ही रहता

है। एक बार बिकाऊ माल की सही पहचान हो जाने के बाद साहित्यक प्रवृत्तियां आवृत्ति या व्यसन के रूप में, रूप बदल-बदलकर थोड़े हेर-फेर के साथ पाठकों तक पहुंचने लगती है। यही कारण है कि व्यावसायिक पत्रिकाएं प्रायः। यथा-स्थितिवादी होती हैं, रूप, सौन्दर्य एवं आस्वादधर्मी होती हैं।

सामान्यतः लघु पत्रिकाओं के आन्दोलन को बाजारवाद और उपभोक्ता-संस्कृति के समानान्तर रचनात्मक प्रतिरोध की संस्कृति के रूप में देखा जाता है। इसे देखने का ठोस आधार भी है। उपभोक्ता संस्कृति के प्रभाव से विकृत रचनाशीलता का सबसे प्रामाणिक उदाहरण हिन्दी फिल्मों की वर्तमान दशा-दिशा है। लोकप्रियता के अर्थशास्त्र नें उसे नुस्खों के अजायबघर में बदल दिया है। हिट-पिट के उसके लम्बे इतिहास नें उसकी व्यावसायिकता को एक कला-संस्कृति में बदल दिया है। हिन्दी की व्यावसायिक पत्रिकाओं ने भी साहित्यक सृजनशीलता को एक अलग कलात्मक रूढ़ि दी है। इस रूढि की एक कलात्मक उपलब्धि है- हिन्दी में गीत और नवगीत लेखन की निरन्तरता तथा पारिवारिक कहानियों की आवृतितपूर्ण उपस्थिति आदि, लेकिन हिन्दी के साहित्यक परिदृश्य में विचारहीन विचारशीलता अथवा अवरुद्ध विचारशीलता के यथार्थ का भी ठोस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य है।

इस परिदृश्य को देखते हुए आश्चर्य नहीं कि हिन्दी की मुक्त विचारशीलता का अधिकांश हिस्सा लघु-पत्रिकाओं में छपकर ही सामने आता है। हिन्दी का प्रबुद्ध पाठक वर्ग लघु पत्रिकाओं में प्रकाशित साहित्य को समानान्तर साहित्य के रूप में स्वीकार करता है। साहित्यक सृजनशीलता के अधिक ईमानदार और बहुआयामी स्वरूप लघु-पत्रिकाओं के माध्यम से ही हिन्दी में सामने आ रहा है। व्यावसायिकता के दबावों से मुक्त गम्भीर विचारशीलता एवं प्रतिरोध की साहित्यक संस्कृति को जन्म देने के कारण हिन्दी का समानान्तर साहित्य, बौद्धिक स्वातंत्र्य का असंगठित क्षेत्र बनकर भी उभरा है। असंगठित इसलिए कि एक-दूसरे को महत्त्व एवं स्वीकृति देने के बावजूद हिन्दी का यह साहित्यक परिदृश्य अन्तरिक्ष में फैले तारों अथवा भारतीय राजनीति में सक्रिय क्षेत्रीय दलों की तरह इतना बिखरा हुआ है कि यदि वैयक्ति ग्राहक न हो तो हिन्दी क्षेत्र के अधिकांश शहरों और कस्बों में इन पत्रिकाओं की सार्वजनिक उपस्थिति देखने को नहीं मिलती। बुक स्टालों पर इनकी अनुपस्थितिं एक सामान्य पाठक के लिए समकालीन सृजनशीलता के इतिहास से भी अनुपस्थित करती है। व्यावसायिक पत्रिकाओं के बीच स्थानीय लघु-पत्रिकाएं ही अपनी उपस्थिति दर्ज करा पाती हैं य फिर भी ये लघु-पत्रिकाएं

हिन्दी-क्षेत्र एवं हिन्दी क्षेत्र से बाहर भी साहित्यक सृजनशीलता का सार्थक परिवेश एवं उपनिवेश निर्मित करती हैं।

गम्भीरता से देखा जाये तो सम्पादक साहित्यक इतिहास के निर्माण का प्रथम द्वार ही है।

वह रचना का प्रथम किन्तु मौन समीक्षक होता है। वह रचना का प्रस्तावक होता है। इधर हिन्दी की साहित्यक पत्रिकाओं में यह भूमिका किसी व्यक्ति-विशेष की नहीं बल्कि व्यक्ति-समूह की होने लगी है। यह चेहरा-विहीन सम्पादन का दौर है। अब यदि कोई रचना अस्वीकृत होती है तो सम्पादकीय टीम में शामिल पता नहीं किसने किया। अब इतिहास में वैसा आरोप नहीं लगाया जा सकता , जैसा कि निराला की 'जूही की कली कविता न छापने पर महावीर प्रसाद द्विवेद्वी के सठियाने की बात ध्यान में आती है। इधर कई साहित्यक पत्रिकाएं एक साझे मंच में बदल गई हैं और 'खण्डे-खण्डे सम्पादक भिन्ना जैसी स्थिति हो गई है। अतिथि सम्पादक, चयन सम्पादक, कार्यकारी सम्पादक और वैधानिक सम्पादक जैसी अनेक कोटियां बन गई है। सम्पादन में 'अन्य-पुरुष के प्रचलन नें आहत लेखक द्वारा सम्पादक को गाली दिए जाने की सम्भावना ही समाप्त कर दी है। पत्रिकाओं और लेखकों की भीड़ में रचना की स्थिति कन्या जैसी हो गयी है।

एक जगह से खेद सहित वाला जवाब मिल गया तो प्रकाशन रूपी विवाह के लिए दूसरी पत्रिका का दरवाजा देखिए। अधिक चिन्ता की कोई बात नहीं -क्योंकि जो पढ़ रहा है वही पढ़ रहा है और वह कहीं भी पढ़ लेगा । हिन्दी का नए दौर का जो साहित्यक परिदृश्य है उसमें लेखक ही पाठक है और पाठक ही लेखक । व्यसनी है तो छपने की लालच में खरीदेगा ही और पढ़ेगा ही । छपेगा तो लेखक कहलाएगा नहीं तो पत्र लिखेगा कि अगली बार जब वह छपे तो उसके छपने पर भी पत्र लिखने वाले रहें । अन्यथा नाराज होने पर सभी मौन साध लेंगे।

सच तो यह है कि भारत के लिए प्रगतिशीलता का एक ही सही तात्पर्य हो सकता है-अपनी सृजनशीलता के माध्यम से अतीत के यथार्थ में परिवर्तनकारी हस्तक्षेप । इस दृष्टि से मैं उन्हीं सम्पादकों का सम्पादन-कर्म सार्थक मानता हूँ , जो किसी न किसी रूप में अतीत से मुक्त होने की प्रक्रिया को प्रोत्साहित करते हैं। यह प्रक्रिया बेहतर भविष्य के सपने के साथ बेहतर विकल्प की तलाश के बिना सम्भव ही नहीं है। एक सार्थक साहित्यक सृजन इसी यात्रा में ही घटित हो सकता है।

4

समकालीन कविता का आत्म-संघर्ष

(इस आलेख को भारत भवन में प्रस्तुत करने को लेकर मुझे एक अत्यंत आत्मीय और अग्रज कवि से तीखे विवाद और आत्म-संघर्ष से गुजरना पड़ा है। मैं कभी किसी राजनीतिक संस्था या लेखक संगठन का सदस्य नहीं रहा। मैं कवि और आलोचक हूँ। कदाचित् 'अस्वीकृत'। स्वीकृति की शर्तें पूरी करने में मैं अपने को अयोग्य अनुभव करता हूँ। मंच और संस्थाओं से संवाद के स्तर पर मेरा सम्बन्ध रहा है। इसके लिए भी मैंने खुद होकर विशेष प्रयास नहीं किया। आलोचनात्मक लेखन प्रायः मैंने अपनी अकादमिक आवश्यकताओं के अधीन किया है। आमंत्रण अथवा आग्रह पर कुछ ही लेखन किए हैं। अवसर ही कम थे। दूसरे स्तर पर, अपने लोगों से सीखने में मैं कभी पीछे नहीं रहा। यह प्रक्रिया है, जिसका लाभ मुझसे दूसरों ने भी लिया होगा। मेरा अनुभव है कि मेरी बातों का जिन लोगों ने लाभ लिया, मंच पर खड़े होने की दशा में उन्होंने मेरी तरफ पीठ कर ली।

मंचों की पीठ मेरी ओर अधिक रही। प्रतिबद्धता की पीठ भी मेरी ओर रही। विरोधियों का सामना करते हुए यह बात होती तो मैं इसे भी सह लेता। उनके साथ तो सामंजस्य के कीर्तिमान स्थापित किए गए। कॅरियर की दुनिया में, चाहे वह साहित्य से सम्बन्धित क्यों न हो, कोई सचमुच शत्रु नहीं होता और

सच्चा मित्र भी शायद ही कोई होता है। सच यही है कि सत्ता संरचना से बाहर कोई नहीं है, और इसका पापबोध भी नहीं है। सामंजस्य को 'रणनीति' की संज्ञा दी जाती है, लेकिन उनका यह सोचना कहाँ तक ठीक है कि दूसरे हमेशा बिना हथियार और रणनीति के अपने पापबोध में अलग-थलग पड़े रहें?

मित्र की मर्जी के विरुद्ध मैंने यह आलेख प्रस्तुत किया, निश्चित ही यह अपराध मुझसे हुआ है। इसे लेकर मैं यही अनुभव करता हूँ, भर्तृहरि का 'लोक है-''बौद्धरो मत्सरग्रस्ता: प्रभव: स्मयदूषिता:। अबोधोपहताष्चान्ये जीर्णम्गि सुभाषितम्।।'' इसकी अनुरचना मेरे द्वारा की गई है- ''जाऊँ, किसे सुनाऊँ। ठहरे जो विज्ञ विषारद। रोग डाह का उन्हें लगा है। कुबेर बड़े कि अधिकारी जो। रहते ऐंठे-ऐंठे हैं। जनगण है अपना समझ उतना पाए न वह। छीज जातीं बातें अच्छी। देह के भीतर।'')

नाइन्टीज अनेकान्त काल

विषय है 'मानवीय मूल्य और समकालीन हिन्दी कविता का आत्म-संघर्ष'। यहाँ विशेषण के रूप में आया 'मानवीय' स्वयं मूल्य है, और जहाँ तक मुझे ध्यान है कविता के सन्दर्भ में 'मानवीय मूल्य' को आगे करके कोई बहस नहीं चली है। हिन्दी में नई कविता के सिद्धान्तकारों के द्वारा प्रचलित पद है- 'मानव मूल्य'। यह बहस के लिए तब बड़ा विषय हुआ करता था और उसके पीछे एक उद्देश्य था। साहित्यिक बहसों के पीछे उद्देश्य प्राय: राजनीतिक ही हुआ करते हैं। 'मानव मूल्य' पर विचार के साथ भी यह था। मुझे थोड़ी देर के लिए उस प्रसंग में जाने की इजाजत दें। उसके बाद मैं समकालीन कविता के आत्म-संघर्ष पर जिरह की इजाजत चाहूँगा। अन्त में यदि सम्भव हुआ तो मानवीय मूल्य पर अपनी बात समाप्त करूँगा।

धर्मवीर भारती की एक पुस्तक का नाम है- 'मानव मूल्य और साहित्य'। भारती नई कविता के प्रमुख कवियों में से हैं, लेकिन नई कविता के प्रमुख सिद्धान्तकार थे लक्ष्मीकांत वर्मा और विजय देवनारायण साही। लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नई कवित के प्रतिमान', जो बहस की दृष्टि से उस जमाने में पर्याप्त महत्त्व की थी, में एक लेख है- 'मानव विशिष्टता और आत्म-विश्वास के आधार'। 'मानव विशिष्टता' से लक्ष्मीकांत वर्मा का आशय 'मानव मूल्य' ही था। यह 1957 की पुस्तक है। इससे पहले 1948 से 1956 के बीच जयशंकर प्रसाद से पद उधार लेकर 'लघुमानव' की धारणा को आगे किया गया था, जिसका

विकास विजय देवनारायण साही के प्रसिद्ध विवादित लेख 'लघुमानव, के बहाने हिन्दी कविता पर बातचीत' में हुआ। उसमें 'लघुमानव' को 'मानव मूल्य' का सैद्धान्तिक आधार दिया गया और छायावाद से लेकर अज्ञेय तक की कविता पर विचारोत्तेजक टिप्पणी की गई। बाद में लक्ष्मीकांत वर्मा ने साही के प्रयास को नई कवितावादी सूत्र के रूप में सामने रखा 'मानव मूल्यों के सन्दर्भ में लघु-मानव की कल्पना' नामक लेख में। इस प्रकार, 'मानव मूल्य' पद अथवा अवधारणा नई कविता द्वारा प्रचलित है। उसी की शब्दावली में कहें तो यह नई कविता के सहचिन्तन की उपलब्धि है। यह अच्छी बात है कि नई कविता में सामूहिक चिन्तन था, जो आज प्रायः दुर्लभ हो गया है। उस सामूहिक चिन्तन का दोष यह था, मुक्तिबोध की शब्दावली में कहें, उसने एक 'क्लोज्ड सिस्टम' बना लिया था, जिससे संघर्ष की आवश्यकता थी, और जिसे मुक्तिबोध ने 'आत्म-संघर्ष' की संज्ञा दी थी - 'नई कविता का आत्म-संघर्ष'। आज हम समकालीन कविता के आत्म-संघर्ष पर बात कर रहे हैं तो उस आत्म-संघर्ष को भी याद किया जाना चाहिए, जिसे मुक्तिबोध ने नई कविता के सन्दर्भ में आवश्यक समझा था। उनकी यह बात यहाँ याद करने योग्य है, ''नई कविता में स्वयं कई भावधाराएँ हैं, एक भाव-धारा नहीं। इनमें से एक भाव-धारा में प्रगतिशील तत्त्व पर्याप्त है। समीक्षा होना बहुत आवश्यक है। मेरा अपना मत है, आगे चलकर नई कविता में प्रगतिशील तत्त्व और भी बढ़ते जाएँगे, और वह मानवता के अधिकाधिक समीप आएगी।''

आगे चलकर नई कविता में प्रगतिशील तत्त्व तो नहीं बढ़े- नई कविता ही नहीं रही- लेकिन प्रगतिशील कविता का जो अगला विस्तार हुआ, उसमें नई कविता के तत्त्व अवश्य बढ़ गए। यह एक हद तक जरूरी भी था। नई कविता में नएपन पर जो जोर था, उसका मूल्य है। उसके कुछ दीगर मूल्यों से असहमति की गुंजाइश है। मुक्तिबोध का 'आत्म-संघर्ष' उसी 'गुंजाइश' को दर्शाता है। उनके यहाँ 'मानवता' का प्रयोग नई कविता के 'सहचिन्तन' के परिणाम के रूप में आने वाला 'मानव मूल्य' के अर्थ में नहीं हुआ है। नई कविता में मानव मूल्य को अर्थ दिया गया था- 'अनुभूति की प्रामाणिकता', 'अनुभूति की ईमानदारी' आदि। इस अर्थ में खोट नहीं है, खोट है इसकी ऐतिहासिक नियति में। नई कविता से पहले यूरोप में आवाँगार्द कला में प्रामाणिक अनुभव को पकड़ने का सराहनीय प्रयास हुआ था, लेकिन बाद में वही 'प्रामाणिक अनुभव' शीतयुद्ध की राजनीति की विचारधारा बना, जिसका शिकार नई कविता भी हुई। उसके प्रति

मुक्तिबोध ने सावधान किया था। उनके शब्द हैं, 'नई कविता के बुर्ज से शीतयुद्ध की गोलन्दाजी' हो रही है। यह आकस्मिक नहीं है कि मुक्तिबोध ने 'अनुभूति की प्रामाणिकता' के वजन पर 'जीवनानुभूति' पद को आगे किया। 'जीवनानुभूति' में मानवता का पक्ष प्रबल है। आज हम कह सकते हैं कि जीवनानुभूति की धारणा कविता के सन्दर्भ में पर्याप्त नहीं है, लेकिन उसकी ऐतिहासिक आवश्यकता से इंकार नहीं कर सकते हैं। उसमें 'शीतयुद्ध की गोलन्दाजी' के विरुद्ध 'जीवनानुभूति' के जरिए 'मानवता' के अधिकाधिक समीप जाने की चेष्टा की गई है।

शीतयुद्ध 1986-87 में समाप्त हो गया। आज यह बहस बेकार है कि शीतयुद्ध का खलनायक अमरीका था या अमरीका और रूस दोनों देश। सिर्फ यही कहा जा सकता था कि द्विध्रुवीय व्यवस्था से विश्वव्यापी संकट पैदा हो गया था। शीतयुद्ध की समाप्ति के पाँच साल बाद सोवियत-कम्यून भी समाप्त हो गये और नई विश्व-व्यवस्था आई। इस बात को बीस साल हो गए हैं। आज इस गोष्ठी के माध्यम से कविता के सन्दर्भ में मानव मूल्य का प्रश्न उठाया गया है तो इसकी प्रासंगिकता को समझना हमारे लिए जरूरी है। नई कविता की वापसी तो सम्भव नहीं है, लेकिन मुझे लगता है कि नई कविता की जो राजनीति थी, जिससे मुक्तिबोध ने अगाह किया था, उसी तरह की 'समझ' की वापसी हो रही है।

90 के बाद का समय हमारा जीवन काल है- हमारा यानि सामान्य रूप से स्वाधीनता के आस-पास जन्मे लोगों से लेकर युवतम पीढ़ी का। इनमें संवेदना अथवा चेतना के धरातल पर मैं बहुत भेद नहीं करना चाहता। समसामयिक होने के नाते लोगों के पूर्वाग्रह काम कर सकते हैं। समकालीनता के साथ यह बात प्रायः होती ही है। वर्तमान मतभेद की भूमि न हो, तो वह कितनी बेजान चीज होगी, इसका अनुमान किया जा सकता है। इसके बावजूद, वर्तमान की वास्तविक विशिष्टताओं का शरसन्धान कठिन होता है। इसके लिए बहुत बड़ी बहस की आवश्यकता है। वर्तमान के अन्तर्विरोध आखिर हमारे ही अन्तर्विरोध होते हैं, जिन्हें समझने के लिए समसामयिक ऐतिहासिक यथार्थ को कठोर आत्म-चेतना के स्तर पर पहचानने की आवश्यकता होती है।

समकालीनता पर कच्ची-पक्की बहसें हमेशा चलती रहती हैं। कविता के सन्दर्भ में कई उल्लेखनीय बहसें हुई हैं। अभी-अभी एकांत श्रीवास्तव ने 'वागर्थ' का अंक निकाला है- 'हिन्दी कविताः 80 के बाद' (नाइन्टीज)। उसमें दस

लोगों ने बहस में भाग लिया है। 'लाँग नाइन्टीज' की अवधारणा बद्रीनारायण की है। 2008 में देखने को मिली 'द लाँग नाइन्टीजरू समय को समझने का एक विनम्र प्रस्ताव' शीर्षक से। उसी की कड़ी है 'फटी हुई जीभ की दास्तान' नामक लेख जो 2009 में छपा था। वह विचारोत्तेजक मामला है, जिस पर मैंने थोड़ा-सा लिखा है, जो 'आलोचना' के नए अंक में छपा है। आज की बहस में भी मैं 'लाँग नाइन्टीज' से जुड़ी कुछ बातें कहने की इजाजत चाहूँगा।

'लाँग नाइन्टीज' के पहले राजेश जोशी और विजय कुमार 'आलोचना' के मंच से समकालीनता और कविता विषय को बहस के लिए आगे कर चुके थे। बाद में राजेश जोशी ने अपनी दूसरी नोटबुक वाली किताब का नाम ही रखा- 'समकालीनता और साहित्य'। उसमें 'समकालीनता और कविता' लेख में मेरी धारणा का उल्लेख किया गया है, जो मैंने एरिक हॉब्सबॉम की 'शॉर्ट सेंचुरी' के वजन पर रखी थी- हमारे अपने सन्दर्भ में 19वीं शताब्दी की शुरुआत 1857 के विद्रोह से और 20वीं शताब्दी की शुरुआत 1947 में मिली आजादी से मानी जानी चाहिए। राजेश जोशी ने अपनी सुविधा के अनुसार मेरी उस बात को छोड़ दिया कि हमारे सन्दर्भ में 20वीं शताब्दी लगभग असमाप्त है। समाप्ति के कुछ चिह्न बाबरी मस्जिद के ध्वंस और उसके बाद की कुछ घटनाओं में अवश्य दिखते हैं, लेकिन हम 21वीं शताब्दी में आ गए हैं, कि इसे लेकर मेरे मन में दुविधा है। सूचना-प्रौद्योगिकी के विस्तार के लिहाज से यह आप कह सकते हैं कि हम लगभग 21वीं शताब्दी में आ गए हैं।

यह हमारा जीवन काल है। जब तक हम जिन्दा हैं इसे समझने के लिए बार-बार नए सिरे से प्रयास की आवश्यकता होगी। और यह कोई प्रलय-काल नहीं है। वे बहुत-सी आशाएँ, जो मनुष्य ने कल्पित की थीं, इस काल में फलो-फूल रही हैं। एक स्वप्नहीनता के बावजूद। यह बात कविता में भी है। कविता का अर्थ होता है स्वप्नहीनता के विरुद्ध होना, भविष्य की ओर देखना। ब्रेख्त की मशहूर कविता है 'आने वाली पीढ़ियों से', जो इस बेचैनी के साथ शुरू होती है- 'सचमुच, मैं एक अँधेरे वक्त में जी रहा हूँ!' यह उस वक्त की कविता है जब द्वितीय विश्वयुद्ध का आगाज हो चुका था। मानवता भीषण खतरे में पड़ गई थी। यह कवि के लिए घोर आत्म-संघर्ष का दौर था, जिसमें वह अपनी कमियों को भी टटोलता है। सबने पढ़ी होगी यह कविता। कविता समाप्त होती है-

पर तुम, जब वह वक्त आए
आदमी आदमी का मददगार हो
याद करना हमें
कुछ समझदारी के साथ।

वह वक्त आए, कविता इसी के लिए लिखी जाती है। इसी बात में कवि की समकालीनता, आत्म-संघर्ष और भविष्य में उसका जीवन है। यही मानवीय मूल्य भी है। मानवीय मूल्य सत्य के अन्वेषण में है। सत्य वही नहीं जो हम देखते हैं, बड़ा सत्य वह है जो हम चाहते हैं। सवाल यह है कि हम चाहते क्या हैं और कितनी ताकत के साथ चाहते हैं। बहुत ऊर्जा चाहिए। बहुत ताकत चाहिए। बहुत सावधानी भी चाहिए। लेकिन विगत के उद्यमों, चाहे वे आसन्न विगत के क्यों न हों, को झुठलाने और नकारने की आवश्यकता नहीं पड़नी चाहिए। पुराने के बीच से ही नया फूटता है। नए के भीतर से दूसरा नया फूटेगा। 'पुराना' फैशन की तरह कभी न लौटे, लेकिन उसका 'अद्‌भुत' अपनी जगह जरूर बना रहेगा, और उसमें झाँकने की भी आवश्यकता बनी रहेगी।

समकालीन कवि वह है, जो अपने को पूर्ववर्तियों की वैचारिक मान्यताओं की कड़ी के रूप में देखता है। वह केवल वास्तविकता की ओर उन्मुख नहीं है। वास्तविकता को वह आत्म-चेतना के स्तर पर रचने का प्रयास करता है, जिसमें भविष्य और उसके रास्ते संकेतित होते हैं। यह काम चुपचाप चलता है, बहुत बोलकर नहीं। कविता की यही प्रकृति है। कवि के आत्म-संघर्ष की यह प्रकृति है। कवि वास्तविकता का हिस्सा मात्र नहीं होता। वह वास्तविकता के विरुद्ध एकांत की रचना करता है,और एकांत जिस चुप्पी की रचना करता है उसमें अनन्त का स्फोट होता है। दूसरे शब्दों में, भविष्य का स्फोट होता है।

प्रश्न है हमारा समय क्या है? हमारे समय की कविता कैसी है? बद्री हमारे समय को 'लाँग नाइन्टीज' नाम देते हैं। 'लाँग नाइन्टीज' यानि हॉब्सबॉम की 'शॉर्ट सेंचुरी' के बाद का समय, जिसमें पुराना समाप्त हो चुका, लेकिन नए का स्वप्न साफ नहीं है। 'लाँग नाइन्टीज' पद में, इस तरह समाजवाद के भविष्य के प्रति निराशा दिखाई देती है। निराशा उचित है, लेकिन उस निराशा के उत्तर में इधर-उधर से लाए गए वैचारिक संस्रोतों में, जो चमक और ऊर्जा देखी गई है, और जिस तरह 'पूर्व पीढ़ी' के कृतित्त्व पर शरसंधान किया गया है, वह आत्मश्लाघापूर्ण विच्छेद की ऊँचाई पर है। किसान, मजदूर और प्रोलेटेरियत आन्दोलनों के बरक्स उपेक्षित एवं दलित, महिला एवं सबाल्टर्न प्रतिरोध बद्री के

अनुसार 90 के बाद की विशेषता है। (वागर्थ-209/34) इससे सहमत होने की गुंजाइश मेरी समझ से कम बनती है। ये बातें बहुत पहले पैदा हो गई थीं। हॉब्सबॉम की पुस्तक 'एज ऑफ एक्सट्रिम्स' के शुरू में 'लोगों की नजर में बीसवीं शताब्दी क्या है' शीर्षक के अन्तर्गत कुछ टिप्पणियाँ शामिल की गई हैं। नोबेल पुरस्कार से सम्मानित रीता लेवी मोंतेलसिनी की टिप्पणी है, ''सभी बातों के बावजूद इस शताब्दी में अच्छे से अधिक अच्छे के लिए क्रांतियाँ हुई हैं चौथी सत्ता का उदय और सदियों से दमित नारी का उत्थान।'' यह बात यूरोप की तुलना में भारत में कम हुई थी, लेकिन हुई थी। कविता में भी 90 से पहले यह दिखाई पड़ती है। रघुवीर सहाय में स्त्री प्रश्न खूब है। मंगलेश, अरुण कमल, राजेश जोशी और उदयप्रकाश में भी है। यह अलग बात है कि इन कवियों ने इसे अलग कर दिखाने की कोशिश नहीं की, और पिछले दौर में कवयित्रियों का अभाव रहा। अच्छी बात है कि बद्री ने अपने पूर्व के कुछ कवियों को, जिसमें राजेश और अरुण हैं, सरलीकरण की प्रवृत्ति से बाहर रखकर देखा है, लेकिन इसके लिए उन्हें 90 का ऋणी बना दिया है। बड़ी चीज नब्बे है, जैसे पहले छायावाद के विरुद्ध बड़ी चीज नई कविता थी। नयी कविता छायावादी संस्कार की शत्रु थी, 90 परवर्ती प्रगतिशील संस्कार का किंचित शत्रु हुआ।

प्रगतिशील कविता, अपने सफल-असफल दावों में, मानवता के लिए संश्लिष्ट विश्वदृष्टि अर्जित करने का प्रयास करती है। विश्वदृष्टि का अर्थ विचारधारा अथवा मार्क्सवादी दृष्टि नहीं। विश्वदृष्टि का सम्बन्ध साहित्य से है, वह साहित्य से उद्भूत होने वाली चीज है। नई कविता भी विश्व दृष्टि अर्जित करने का प्रयास करती है। अज्ञेय के यहाँ यह बात है। प्रगतिशील कविता और नई कविता, दोनों आधारभूत विभिन्नताओं को टटोलने का प्रयास करती हैं। दोनों अपने-अपने स्तर पर एक जगह आकर मिलने का भी प्रयास करती हैं। शमशेर और मुक्तिबोध, दोनों इस बात के उदाहरण हैं। अच्छी बात थी कि इन कवियों में जीत की तमन्ना थी तो असफलता का इतिहास रचने का साहस था, जो बाद में कम दिखाई पड़ता है। आज सफलता के लिए जोड़-तोड़ कितना बढ़ा है, बद्रीनारायण को भी मालूम है।

बद्रीनारायण ने जितने समकालीन प्रतिरोध गिनाए हैं, उनमें से एक है सबाल्टर्न। यह भी 90 की कोई संवृत्ति नहीं है। दूसरी बात, जैसे आवाँगार्द की कला में बाद में आकर्षण नहीं बचा था, वही बात सबाल्टर्न के साथ है। सबाल्टर्न लोग त्रोसदी के प्रसन्न-चित्त आख्याता बन गए, सांस्कृतिक प्रभुत्व (कल्चरल

हिगेमनी) तोड़ना उनके एजेंडे में नहीं रहा। आज जब मजदूरों, किसानों, निम्न बुर्जुआ का लोकप्रिय गठबंधन, जिसे 'जनता' कहा जाता है, गायब हो रहा है, सबाल्टर्न पर फ्रेडरिक जैम्सन की उत्तर आधुनिकता के विमर्शें पर यह टिप्पणी सही बैठती है।

इसके लिए फ्रायड के स्वप्न विश्लेषण के रूपक का इस्तेमाल किया गया है। संभवत: सब बातों के बावजूद यह नई कहानी नहीं है। फ्रायड के उस 'आनन्द' को याद करें जो उन्हें एक अस्पष्ट आदिवासी संस्कृति की खोज से प्राप्त हुआ था। स्वप्न विश्लेषण की अनेक परम्पराओं में से सिर्फ यह खोज उनकी अवधारणा के काम की थी कि सभी स्वप्नों के सेक्स सम्बन्धी छुपे अर्थ होते हैं- केवल सेक्स सम्बन्धी स्वप्नों के, जिसके कुछ और ही अर्थ होते हैं। यही बात उत्तर आधुनिक बहसों पर भी लागू होती है, जिस विराजनीतिक नौकरशाही से यह संवाद स्थापित करता है, वहाँ समस्त सांस्कृतिक लगने वाली बातें राजनीतिक नीति शिक्षण का प्रतीकात्मक रूप निकालती हैं- सिवाय एकमात्र स्पष्ट राजनीतिक स्वर के, जो पुन: राजनीति से संस्कृति में घुसपैठ का लक्ष्य रखता है।

बद्रीनारायण ने 90 के दशक में उभरे कवियों में सामान्य सम्बन्ध-सूत्र की दृष्टि से 'स्थानीयता' अथवा 'लोक' को जो महत्त्व दिया है वह तब तक फ्रायडीय 'आनन्द' से आगे की कहानी नहीं बन सकता, जब तक कि उसकी आधारभूत विभिन्नता किसी संश्लिष्ट और मूलगामी विश्व दृष्टि पर आकर नहीं मिलती। कम-से-कम दबाव पैदा करने की शक्ति तो उसमें होनी ही चाहिए। मैं यह नहीं कहता कि आज की कविता में यह बात एकदम नहीं है, लेकिन 'स्थानीयता' अथवा 'लोक' के नाम पर विराजनीतिक नौकरशाही से सामंजस्य बैठाने और सत्ता संरचना में अपने को खपा देने का भी काम कम नहीं हुआ है। संभव है कि इस कहानी के हम भी किरदार और 'पवित्र पापी' हों। इस बात से कविता के आत्म-संघर्ष का गहरा सम्बन्ध है।

फूको प्रतिपादित करते हैं सत्ता सर्वत्र है। कोई भी ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ से प्रतिरोध को सत्ता से अलगाया जा सके। जो विरोध में खड़ा है वह वास्तव में दूसरे प्रकार की सत्ता है। साहित्य अथवा कविता प्रतिरोध की सत्ता के रूप में भी इसका अपवाद नहीं है। इसलिए पूर्व पीढ़ी को कोसना और अपनी पीठ थपथपाना ठीक नहीं है। इस रास्ते हम समकाल के ही बन्दी हो जाते हैं। ठीक काम यह है कि हम समसामयिक ऐतिहासिक यथार्थ और उसकी चुनौतियों से

आत्म-चेतना के स्तर पर टकराते रहें। इसे सच्ची रचनाशीलता कही जा सकती है। इससे नए रास्ते निकलेंगे, नई युग-चेतना निर्मित होगी। 'परिवर्तनकारी समय' (पद बद्री का) की रचना भी इसी रास्ते होगी। 'भारत माता ग्राम-वासिनी', जो 'लाँग नाइन्टीज' के सम्पादकीय में एकांत श्रीवास्तव ने उत्साह में जो कहा है, भावना के स्तर पर मैं उनकी बात की इज्जत करता हूँ, लेकिन उसमें निहित नॉस्टैलिजिया और रूमानियत से बात नहीं बनेगी। कई-कई विषय और भावधाराओं की जरूरत है। समकालीन कविता के आत्म-संघर्ष में केवल गाँव और कस्बा शामिल नहीं हैं। विगत की तुलना में उसके क्षेत्र में कई गुना विषय बढ़ गए हैं। काव्य-वस्तु के विकास के लिए भी संघर्ष करना है, जो इस सूचना प्रौद्योगिकी युग में कई गुना कठिन हो गया है। काव्य-विषय की दृष्टि से हमें भारी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। सूचना प्रौद्योगिकी की पहुँच कवि-चेतना को मात कर देती है। उससे सीखने और टकराने, दोनों की जरूरत है। हम सूचना और संचार प्रविधियों की अर्थव्यवस्था में आ चुके हैं। इसकी नई उत्पादन विधि, डी. फोरे की मानें तो, सॉफ्टवेयर के विकास को भी पार कर जाएगी, किस हद तक, उसे अभी समझा नहीं जा सकता है। इस तरह कवि-कर्म कठिन से कठिनतर होता जाएगा। ऐसे में, हमारी अन्तःप्रेरणाएँ ही सबसे अधिक काम आएँगी। दूसरी बात, सूचना प्रौद्योगिकी भी विषय है। बड़ा विषय है, जैसे पहले औद्योगिक क्रान्ति और मजदूरों के आन्दोलन बड़े विषय थे।

हमारे समकालीन कवि दो प्रकार के हैं। एक वे हैं, जो अपनी रचना और उसके विषयों को लेकर बहुत मुखर हैं। उन्हें अपने को मनवाने की चिन्ता अधिक रहती है। समझौता विहीन स्तर पर और बेहतरी की दिशा में या कहें प्रगति की मंशा से यदि किसी में यह है, उसे भी आत्म-संघर्ष के रूप में मंजूर किया जाना चाहिए। दूसरे वे हैं जो अपने कवि होने के प्रति संकोच का भाव रखते हैं। उनका आत्म-संघर्ष कठिन है। उनमें अन्तःप्रेरणाएँ अधिक सक्रिय रहती हैं, लेकिन उन्हें समझने में कवि अपने को असमर्थ महसूस करता है। जब कवि ही नहीं समझ पाता तो दूसरों के लिए समझना मुश्किल काम होगा ही। इस मुश्किल के भीतर कवि के आत्म-संघर्ष को समझने और इसी दृष्टि से उसे महत्त्व दिए जाने की आवश्यकता है। आज कवि बहुत हैं, लेकिन इस 'मुश्किल' के भीतर ऊँचाई पाने वाले कवि बहुत कम हैं। जो हैं उन्हें आगे रखकर देखने की जरूरत है। आत्म-संघर्ष वाली बात ठीक-ठीक तभी समझ में आ सकती है।

अन्त:प्रेरणा- जिसे पुराने लोग 'कारयित्री प्रतिभा' कहते थे। यह 'उत्पाद्य प्रतिभा' है। प्रतिभा कहने से भी काम चल सकता है। इसमें अनुभूति, जीवनानुभूति और कलात्मक अनुभूति, सभी बातें शामिल हो जाती हैं। यह सदैव बेहतरी अथवा अच्छाई की दिशा में सक्रिय रहती है। इसे मान लेने के बावजूद, जैसा कि मैं समझता हूँ, अन्त:प्रेरणा वह 'स्पेस' है जहाँ अच्छाई और बुराई को बराबर का दर्जा प्राप्त होता है। अन्त:प्रेरणा में हम एक वस्तु को दूसरी वस्तु को विकल्प के रूप में नहीं देखते, उनसे चेतनागत सम्बन्ध अथवा विशेष प्रकार का तादात्म्य स्थापित करते हैं। सम्बन्ध की प्रकृति अथवा वह 'विशेष प्रकार' क्या है, यह महत्त्वपूर्ण है। अन्त:प्रेरणा की क्रियाओं में अच्छा और बुरा दोनों समान महत्त्व रखते हैं। इस सम्बन्ध में फूको का एक कथन याद आता है, ''मैं नहीं कहता कि सभी चीजें बुरी हैं, लेकिन वे सभी चीजें खतरनाक हैं जो ठीक-ठीक 'बुरी' के समान नहीं हैं।''

एक साक्षात्कार में यह बात आई है। और मैं जब यह पढ़ रहा था तो अचानक मुझे 'रामचरितमानस' का अन्तिम दोहा याद आया-

कामहि नारि पिआरी जिमि लोभहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम।

मैंने शुरू में कहा था कि अंत में 'मानवीय मूल्य' पर भी एकाा बात करूँगा। काम-पिपासा और लोभ बुराई है, अमानवीय है। तुलसी ने अपनी भक्ति को उसके समकक्ष रखा। बुराई में जितनी शक्ति होती है, वह 'भक्ति' को प्राप्त हो, भाव यह है। भक्ति को पाने के लिए उस पर बुराई को उत्प्रेक्षित करना पड़ा। मानवीय मूल्य तो ठीक है, लेकिन जो संसार है उसमें मानवीय-अमानवीय, अच्छा-बुरा, सब कुछ है- 'सुगुन छीर अवगुन जल ताताय मिलइ रचइ परपंच विधाता।'

अन्त:प्रेरणा के क्षेत्र में अन्तर्बाधा के लिए स्थान नहीं है। लेखक के नाते हम जानते हैं कि मूल्य अन्तिम नहीं होते। सार्त्र का यह कथन महत्त्वपूर्ण है, ''मानवता को अभी निर्धारित होना बाकी है।'' यही समझ हमें फासीवादी होने से बचाती है और आत्म-संघर्ष के लिए युक्ति प्रदान करती है।

एक साथ कई विषयों से गुजरना और उनसे जुड़े प्रश्नों पर बात करना कठिनाई पैदा करता है। यह दौर ही ऐसा है- अनेक विषयों और प्रश्नों से घिरा। इस अर्थ में मैं मानता हूँ कि नौवाँ दशक और उसके बाद का समय अलग से दिखाई देता है, लेकिन इसे 'लाँग नाइन्टीज' ही कहा जाए, इसे लेकर मेरे मन

में दुविधा है। बद्रीनारायण की इस बात से मैं सहमत हूँ कि नब्बे के दशक के पूर्व की कविता में जा वैचारिक संस्रोत काम कर रहे थे, वे बाद में कमजोर पड़ गए या अपर्याप्त साबित हुए। हमारे समय में 'अनेकान्त' का महत्त्व है। हम किसी भी बुनियादी विषय पर एकमत होने की स्थिति में पहले की तुलना में बहुत कम हैं। दूसरी ओर, दूसरों की तरफ से प्रस्तावित विषय और विचार के प्रति हम पहले की तरह द्वेषी नहीं हैं। हम अकेला विकल्प हैं, यह बात अब नहीं रही। हमारा विवाद सबसे है और अपने आपसे भी है, जो जीवन और रचनाशीलता दोनों में मायने पैदा कर रहा है, लेकिन जिस दुनिया में हम जी रहे हैं उसमें खतरे भी कई गुना बढ़ गए हैं, उसमें हार जाने का डर विगत की तुलना में बढ़ गया है। यह एक ऐसा क्षण अथवा बिन्दु है जो हमें इस समझ पर कायम होने के लिए विवश करता है कि पिछले 'दर्शन' का महत्त्व है, लेकिन उसमें जरूरी संशोधन और नये अध्याय जोड़ने की जरूरत पड़ेगी। अभी तो हमें यही पता नहीं है कि हम कहाँ जा रहे हैं। यह अनेकान्त काल है, लेकिन रचनाशीलता के लिए, तमाम मुश्किलों के बावजूद, यही ऊर्वर काल है। हमें अपना काम करते हुए इस उम्मीद पर अपने को कायम रखने की जरूरत है, जो ब्रेख्त की उद्धृत पंक्तियों में है, 'जब वह वक्त आए। आदमी-आदमी का मददगार हो। याद रखना हमें। कुछ समझदारी के साथ।' जब वह वक्त आएगा तो ब्रेख्त के साथ शायद हमें भी कुछ समझदारी के साथ थोड़ा याद रखा जाए। आमीन!

5

समकालीन कविता: एक विमर्श

बात शुरू करते हैं। समकालीन हिंदी कविता के परिदृश्य से क्योंकि समकालीन कविता की दशा-दिशा व चिन्ताएं काफी हद तक उसी में समाहित है। उल्लेखनीय है कि हिन्दी कविता का संसार या क्षितिज बहुत फैलाव लिए हुए है। एक ओर देश की धरती पर हिन्दी और हिन्दीतर प्रदेशों में रची गई अथवा रची जा रही कविता है तो दूसरी ओर देश के बाहर प्रवासी और भारतवंशी कवियों के द्वारा सम्भव कविता है। रूप और शैलियों की दृष्टि से भी देखें तो हिन्दी कविता को समृद्ध पाएँगे। यहाँ काव्य नाटक और लम्बी कविताएँ भी हैं और गजल, गीत और छन्दोबद्ध रचनाएँ भी खूब लिखी जा रही हैं। लक्ष्मीशंकर वाजपेयी अच्छा लिख रहे हैं। । नरेश शांडिल्य की अच्छी गजलों का संग्रह 'मैं सदियों की प्यास' हाल ही में प्रकाशित हुआ है। पिछले दिनों वाणी प्रकाशन से प्रकाशित काव्य-नाटक 'खण्ड-खण्ड अग्नि' घर किताबघर प्रकाशन से प्रकाशित 'गेहूँ घर आया हैं।' काफी चर्चित रहे हैं। दलित घर स्त्री कविता अपनी-अपनी तरह उपस्थिति दर्ज करा चुकी है। । कविता आज विविधरंगी और विलक्षण है। कवि केदारनाथ सिंह ने किसी संदर्भ में लिखा था - इस समय सड़क पर कोई भी किसी का समकालीन नहीं है। ऊपर लिखे का यह अर्थ नहीं है। कि इस दर की कविता केवल सामूहिक रूप में ही अपना वैशिष्ट्य अर्जित कर सकी है। कुछ ऐसे कवि जरूर है। जो काफी हद तक या तो अपना-अपना वैशिष्ट्य पा चुके हैं। या उसे पाने के लिए प्रयत्नशील हैं। । यहाँ मैं ऐसी कविताओं के

बारे में कुछ नहीं कहना चाहूँगा जो काव्यगत नवीनता के नाम पर कोरा अभ्यास मात्र होती है। थोड़े शब्दों में पकड़ने की कोशिश की जाए तो समकालीन कविता सक्षम, एवं सकारात्मक दृष्टि से संपन्न कविता है। जिसने एक पर नकारात्मकता या निषेध से मुक्ति दिलाई है। तो दूसरी ओर गहरी मानवीय संवेदना से कविता को जागृत रहकर समृद्ध किया है। अपनी भूमि को सांस्कृतिक मूल्यों, स्थानीयता, देसीपन पर लोकधर्मिता, स्थितियों की गहरी पहचान, अधिक यथार्थ, ठोस और प्रामाणिक चरित्र, मानवीय सत्ता पर आत्मीय संबधों-रिश्तों की गरमाहट से लहलहा दिया है। मुख्यधारा की राजनीतिपरक समकालीन कविताओं पर भी दृष्टि डाले तो पाड़ेगे कि ये कविताएँ नारेबाजी से तो दूर है। ही, नारेनुमा तक नहीं है। ये तो गहरी संवेदनाओं से युक्त, भाषा और कलात्मक क्षमताओं से भरपूर एवं संयमित है। यहाँ काव्य-मुद्राओं एवं चमत्कारों के लिए कोई स्थान नहीं है। इन कविताओं ने सहजता का वरण किया है। प्रेम की कविताओं में भी ललक पर जिज्ञासा है। रोमांटिक भावुकता के स्थान पर आत्मीय लगाव है। वस्तुतः यह कविता अकविता के निषेधवाद से तो कोसों दूर आगे की कविता है। ही - लगभग उसकी प्रतिद्वन्दी जसी-धूमिल की लटकेबाजी और रेहटरिक को भी छोड़कर चली है। हाँ प्रभाव इनका जरूर धीरे-धीरे गया है। समकालीन कविता की एक महिमामय उपलब्धि त्रिलोचन की कविता को, इसके परिदृश्य में सशक्त पहचान मिलना भी है। अकविता के अंतिम संकलन 'निषेध' के बाद अलग से उभर कर आने वाली कविता को रेखांकित करने के अनेक प्रयास भी हुए। इन्हीं प्रयासों में से एक था त्रिलोचन जी की प्रेरणा से दिविक रमेश के द्वारा संपादित 1981 में प्रकाशित कविता-संग्रह 'निषेध के बाद' जिसके 13 कवियों में मेरे सहित अवधेश कुमार, तेजी ग्रोवर, राजेश जोशी, राजकुमार कुम्भज, चन्द्रकांत देवताले, सोमदत्त, श्याम विमल और अब्दुल बिस्मिल्लाह सम्मिलित थे। कविताओं पर सुधीश पचपरी ने टिप्पणी लिखी थी। संकलन त्रिलोचन जी की 64वीं वर्षगांठ पर उन्हीं को समर्पित है। हाँ मानबहादुर सिंह, गोरख पाण्डेय और ज्योत्सना मिलन जैसे कवियों की भी कविताओं को सम्मिलित किए बिना समकालीन कविता का परिदृश्य अधूरा ही रहेगा। देश की भूमि पर, विशेष रूप से हिन्दी अंचल में ही देखें तो एक साथ कई पीढ़ियां काव्य रचना में तल्लीन दिखाई देती हैं। कुंवर नारायण, रामदरश मिश्र, कैलाश वाजपेयी, माणिक बच्छावत, गंगा प्रसाद विमल, सुनीता जैन आदि सक्रिय हैं तो अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे, भगवत रावत, नन्दकिशोर आचार्य, चन्द्रकांत देवताले, अरुण कमल,

विश्वरंजन, मंगलेश डबराल आदि के साथ अन्य दो कनिष्ठ और नई पीढ़ियों के भी कितने ही कवि हिन्दी कविता को भरपूर योगदान दे रहे हैं। हिन्दी में अशोक सिंह द्वारा अवतरित 'नगाड़े की तरह बजते शब्द', वाली संताल आदिवासी निर्मला पुतुल और 'क्या तो समय' वाले अरुण देव इधर के कवि हैं और दोनों ही 1972 के जन्मे हैं। कुछ और कवियों में बोधिसत्व, हेमन्त कुकरेती, प्रताप राव कदम, पंकज राग, हरे प्रसाद उपाध्याय, उमाशंकर चौधरी, दिनेश कुमार शुक्ल, सूरजपाल चौहान, सुरंजन, विमल कुमार, दुर्गाप्रसाद गुप्त, प्रताप सहगल, लालित्य ललित आदि कवि भी ध्यान खींचते हैं। हिन्दीतर सूची बहुत लंबी हो सकती है। यहाँ आए नाम सहसा आए है। सोच-समझकर नहीं। अत: छूट गए सभी समर्थ कवि अपने-अपने को यहाँ सम्मिलित माने। बात थोड़े उदाहरणं से भी आगे बढ़ाई जा सकती है। एक कवि हैं बद्रीनारायण। युवा प्रतिभाओं में बद्रीनारायण का नाम अग्रिम पंक्ति में है। उनका कविता संग्रह 'शब्द पदीयम्' उनका दूसरा कविता-संग्रह है। नि:सन्देह ये कविताएँ उनकी आगे की कविताएँ हैं और अधिक परिपक्व हैं। बद्री नारायण उन कवियों में से हैं, जो लोक से ताकत लेते हैं। वे कथनों को मुहावरी जामा पहनाने में समर्थ हैं। यह सामर्थ्य भाषा को मोम बना देने वाली ताकत से आता है, जो बद्री में है:

चिड़िया और हिरणी के बारे में सोचना
अन्तत: शिकारी के बारे में सोचना है
अथवा
मैं कटी लकड़ी हूँ
जो खोजती है पेड़ों को

अशोक वाजपेयी ने कितनी ही खूबसूरत प्रेम कविताएँ दी हैं। अशोक जी सच्चे मायनों में प्रयोगशील कवि कहे जा सकते हैं। भाषा के साथ भी वे बहुत बार सार्थक प्रयोग करने से नहीं चूकते। उनके एक संग्रह 'इबादत से गिरी मात्रोएँ' में एक-एक पंक्ति की 30 कविताएँ हैं, जो कवि का भाषा पर विलक्षण अधिकार सिद्ध करती हैं। उनकी कविताएँ स्वयं कवि की अपनी कविता-परंपरा को ही नहीं बल्कि हिंदी कविता को समृद्ध करने में समर्थ हैं। एक कविता है 'सरनाम सिंह की मृत्यु पर'। यह एक अद्वितीय कविता है। मनुष्यता के बेहतरीन रूप को यह कविता इस तरह फोकस में लाती है कि मनुष्यता का उद्घोष करने वाली सैंकड़ों कविताओं पर भारी पड़ जाती है। एक अंश है।

पर तुम्हारी मृत्यु के दो दिनों बाद यह सौभाग्य है कि हम जीवित हैं,
लेकिन यह सच है कि तुम्हारे मरने में कुछ हमारा भी मर गया,
और यह क्या था हम जीते जी कभी नहीं जान पाएँगे-
हम तुम्हें भूलेंगे ताकि हमें अपना कुछ मरना याद न आए, सरनाम।

विष्णु खरे अकेले और अनूठे कवि हैं। उनके यहाँ आवेश या उत्तेजनापूर्ण विषयों पर भी कमाल की धैर्यवान और ठंडी-ठंडी ठहरी हुई प्रौढ़ शैली मिलती है। जरा भी हड़बड़ी नहीं। अपनी राह पर अपनी धुन में जाता हुआ एक यात्री-लेकिन पूरे माहौल के प्रति सचेत। शायद इसीलिए कवि की कविता अपना एक सहज साँचा बनाती है और अपने असर का एक खास मिजाज तैयार करती है - झटकाभर देकर फुस नहीं हो जाती। एक कविता है 'पुनर्वतरण'। इस कविता में यीशु के बहाने, आब्लीक शैली में जिस प्रकार शांति, सद्भाव, मानव-प्रेम आदि चाहने वालों को, सता-विचारकों द्वारा घर विहीन बना दिए जाने की विडंबना को व्यक्त किया गया है यह समझ के स्तर पर गहरी छाप छोड़ता है। कविता की कुछ पंक्तियाँ हैं।

हालाँकि इस धरती पर हमें तुम्हारी जरूरत है यीशु
हालाँकि हम तुम्हारा वचन याद करते हैं और तुम्हारी सख्त जरूरत है
लेकिन मैं वह जगह सोच नहीं पाता जहाँ तुम अवतरित होगे
और सुरक्षित रह सको।

रामदरश जी उन गिने-चुने लेखकों में से एक है, जिन्होंने कहानी क्या, उपन्यास क्या, संस्मरण क्या, जीवनी क्या और कविता क्या, न जाने कितनी ही विधाओं में बहुत अधिक लिखा है। अच्छी बात यह है कि अधिकता ने उनके स्तर को अधिक आघात नहीं पहुंचाया है। उनकी कविताएँ बहुत अपनी और अपने परिवेशानुभवों को समेटे हुए सहज हैं और गहरे अर्थ बोध से संयुक्त हैं। कहीं भी बनावटीपन नहीं। कवि की स्मृति में अपना गाँव-गवाहंड सदा बसा है। और उनकी कविताओं को वहाँ से बहुत ताकत मिलती है। 'कोयले और चूल्हे' का यह अंश भीतर तक छू जाता है:

'आसान दिनों में
अभिजात हँसी हँसता हुआ गैस का चूल्हा
हमारे साथ चलता रहता है
लेकिन जब जाड़े के मुश्किल दिन आते हैं
तब आँगन के कोने में उपेक्षित उदास-सा पड़ा

कोयले का चूल्हा जाग जाता है हमारी आँखों में।'

भगवत रावत एक समर्थ कवि हैं भले ही आलोचकों की निगाह में उतने नहीं चढ़ सके हैं। चुनी हुई या निर्वाचित कविताओं के द्वारा ऐसे पाठक, जो पूरे साहित्य को पढ़ने का समय नहीं निकाल पाते, कवि की उत्कृष्ट देन से जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। स्वयं कवि की भी अपनी काव्य-यात्रा की उपलब्धियों का पता चलता है। मानवीय चेतना से भरपूर भगवत रावत की कविताओं में से एक कविता का अंश है:

सच पूछो तो
इतने से कामों के लिए आया था पृथ्वी पर
और भागता रहा यहाँ से वहाँ।

हिन्दीतर प्रदेशों में भी हिन्दी कविता काफी फल-फूल रही है, भले उसकी ओर अपेक्षित ध्यान देने की जरूरत बनी हुई है। अरविंदाक्षन, पद्मजा घोरपड़े, प्रतिभा मुदलियार, क्षमा कौल जैसे अनेक कवि-कवयित्रियां है, जिन्होंने अच्छी कविताएँ लिखी हैं। बाहर रह रहे प्रवासी एवं भारत के मूलवासी भारतीयों में आज अनेक हिन्दी साहित्य सृजन में न केवल संलग्न हैं बल्कि अच्छा लिख रहे हैं और उनके लेखन को सहज ही लेखन की केन्द्रीय धारा में सम्मिलित किया जा सकता है। तेजेन्द्र शर्मा, दिव्या माथुर, डॉ. कृष्ण कुमार , प्रो. आदेश, उषा राजे सक्सेना, सुषम बेदी, डॉ. गौतम सचदेव, अनिल जनविजय, डॉ. पुस्पिता, निखिल कौशिक, हेमराज सुन्दर, डॉ. सत्येन्द्र श्रीवास्तव, पद्मेश गुप्त, सुधा ओम ढींगरा (यहाँ भी अब एक लंबीसूची है।) आदि अनेक कवियों के नाम गिनाए जा सकते हैं।

यदि कहूँ कि बावजूद निराशा भरे अनेक स्वरों के और बावजूद पाठकीय उपेक्षाओं की मार से उपजे रूदन के, समकालीन हिन्दी कविता का श्रेष्ठ विश्व की किसी भी श्रेष्ठ कविता से कमतर नहीं है, न ही कलात्मक विशद् अनुभवों की दृष्टि से और न ही विविध एवं सहज सशक्त अभिव्यक्ति कौशल की दृष्टि से । तो ऐसे वचन को अतिशयोक्ति मानने वालों के पास प्राय: कविता से इतर ही तर्क हुआ करते हैं। यह कोई छिपी हुई बात नहीं है कि प्रतिवर्ष सैंकड़ों कविता संग्रह प्रकाशित होते हैं और कितनी ही पत्र-पत्रिकाओं में एक बड़ी संख्या में कविताएँ छपती हैं। इतनी बड़ी संख्या को एक साथ अध्ययन के दायरे में लाना असंभव है। उनकी हम तक या हमारी उन तक संपूर्ण यात्रा निस्संदेह कठिन है। इसीलिए मुख्यत: बात प्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कवियों की कृतियों तक

ही सीमित रह जाती है। तो भी युवा कवियों की पीढ़ी के पास अवसरों की कमी नहीं है। माना कि परिवेश में अड़ंगेबाजी कम नहीं हैं। निःसंदेह पत्र-पत्रिकाओं, प्रकाशकों एवं संपादकों की भरमार के बावजूद। हिन्दी कविता में आज तीन प्रकार के कवि हैं- एक वे जो 'जाने' जाते हैं। दूसरे वे जो 'माने' जाते हैं और तीसरे वे जो 'जाने-माने' जाते हैं। सबसे सौभाग्यशाली कवि दिखने में तो तीसरी श्रेणी के कवि हैं, लेकिन असल में हैं वे दूसरी श्रेणी वाले कवि ही, क्योंकि 'माने' की श्रेणी में आने के बाद 'जाने-माने' की श्रेणी में उनका प्रस्थान आसान हो जाता है। दूसरी श्रेणी में वे कवि होते है, जिनकी ओर लाड़-प्यार वाला ध्यान, कुछ प्रभावशाली आलोचक, केन्द्रित करते हैं। प्रायः इन्हें ही संस्थाओं के फल-फूल प्राप्ति का सौभाग्य प्राप्त होता है। बड़े प्रकाशकों के पिछ्छलग्गूपन का आस्वाद भी इन्हें ही मयस्सर होता है। पत्र-पत्रिकाओं की विशिष्ट शोभा भी इन्हीं से बढ़ायी जाती है। पाठ्यक्रमों में भी ये ही अवलोकित होते हैं। ये ही वे होते है, जिन्हें अन्य समर्थ कवियों की कुंठा का कारण बनाने के भी भरपूर प्रयत्न चलते रहते हैं, इत्यादि, इत्यादि। ऐसे परिवेश की पहुंच अपनी स्वदेशी धरती पर फल-फूल रहों के साथ, बाहर की धरती तक भी होती है। मुख्यधारा में वहाँ के रचनाकारों का प्रवेश भी प्रायः इसी परिवेश पर निर्भर करता है। हाँ, इतना अवश्य है कि पहली श्रेणी के कवियों में से कुछ, और वे बहुत कम कुछ होते हैं, जल्दी ही ऐसे परिवेश के चक्रव्यूह को तोड़ने में समर्थ भी पाए जाते हैं। फिर भी, हिन्दी कविता के शिखर, जैसा प्रारम्भ में कहा था, सशक्त और ऊँचे हैं। और इसे संभव करने वाले उपर्युक्त तीनों ही श्रेणियों के कवियों में उपलब्ध हैं।

सबसे बड़ी बात यह है कि इस समय की कविता पहले की कविता वाली नारेबाजी, बड़बोलेपन, शोर और उत्तेजना के अतिरेक, सबको कोसों दूर छोड़ आयी है, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है। सीमित दायरे उसे पसन्द नहीं हैं चाहे वे कथ्य के हों या अभिव्यक्ति के। सूक्ष्म से सूक्ष्म, निजी से निजी और स्थानीयता की महक से भरे अनुभव भी आज की कविता का कथन हैं और विशाल से विशाल तथा व्यापक से व्यापक वैश्विक अनुभव भी आज की कविता से अछूता नहीं है। दृष्टि भी आज के कवि की एकांगी या एक दिशा गामी नहीं है बल्कि वह सच्चे मायने में प्रगतिशील है और संतुलित भी। प्रेम हो या राजनीति, ठेठ आदिवासी और ग्रामीण जीवन हो या कस्बाई और महानगरीय, रसोई हो या पांचसितारा होटल, सम्पन्न हो या दलित, आक्रामक हो या ठग कोई भी उसके अनुभव के दायरे से बचा नहीं है। आतंकवाद और सम्प्रदायवाद तक

अपने सबसे घिनौने रूप के साथ अत्यंत प्रमाणिक अनूभूतियों और अनुभवों के साथ समकालीन कविता में मौजूद है। अपने समय के समाज और देश की सम्पूर्ण धड़कन इस समय की कविता में उपस्थित हैं, वह भी अपने सम्पूर्ण रूप और विविध गति में। सोच और मार (वार) का एक अद्वितीय रास्ता इस कविता के पास है। इसके लिए उसके पास अपनी तरह के अभिव्यक्ति-औजार भी हैं। लोक (अर्थात् लोकजीवन, लोकभाषा, लोककथाएँ आदि), मिथक आदि से ताकत लेने में उसे गुरेज नहीं है। वह प्रहार करती है, लेकिन सार्थक एवं सकारात्मक। सृजनात्मकता में आज की कविता का अटूट विश्वास है, अत: वह निषेध और ध्वंस को छोड़ कर चलती है। वह प्रकृति में होने वाले उन छोटे-छोटे, महत्त्वहीन समझे जाने वाले व्यापारों को सामने लाकर अपनी इस दृष्टि का परिचय भी देती है और उसी राह समाज को चलाने की अपेक्षा भी करती है।

जब चोंच में दबा हो तिनका
तो उससे ज्यादा खूबसूरत
कोई पक्षी नहीं होता।
(दिविक रमेश)

पक्षी की चोंच में तिनके के दबा होना सृजन और निर्माण की समझ को सामने लाता है। आज के कवि का मुख्य स्वर है ही विध्वंस और मृत्यु के खिलाफ। बाबरी मस्जिद का संदर्भ हो या, 11 सितम्बर अमेरिका का, गुजरात का हो या इराक युद्ध का, या फिर उत्तर प्रदेश की निठारी का, सब उसे बेचैन करते हैं। दिव्या माथुर के संग्रह का ही शीर्षक है 11 सितम्बर। सच तो यह है कि समय के दबाव से जन्मी मनुष्य की जितनी बेचैनियाँ और दबाव हो सकते हैं सब आज की कविता में प्रमुखता से मौजूद हैं। राजनीति की विसंगतियों के, बहुत ही ठहरे हुए तरीके से, आज की कविता परखचे उड़ाने में सक्षम हैं। दो अंश देखिए:

देश हमारा कितना प्यारा
बुश की आँखों का तारा
हम ही क्यों अमरीका जाएँ
अमरीका को भारत लाएँ
(मनमोहन, जिल्लत की रोटी)

हम अणु युग की ताकत का दुख नहीं चाहते

धरती पर विस्फोट नहीं चाहते
हम थोड़ी सी-धरती और थोड़ा-सा आकाश चाहते हैं
हम धरती का प्यार चाहते हैं
हम तितली और फूलों का प्यार चाहते हैं।
(पंकज चतुर्वेदी, एक ही चेहरा)

इस कविता ने संबंधों की खोती चली गई 'आत्मीयता' की वापसी का सफल प्रयत्न भी किया है। माँ, पिता, बहन, भाई, बेटियां, मित्र आदि पर केन्द्रित संभवत: सबसे अधिक कविताएँ इसी दौर ने संभव की हैं। साथ ही, यह भी कि इसी समय में स्त्री और दलित पर केन्द्रित विशिष्ट विमर्शात्मक कविताएँ भी उपलब्ध हुई हैं। प्रवासी कवियों में एक कवि हैं - अनिल जनविजय। उनकी कविताओं का संग्रह है -राम जी भला करें। कितनी ही कविताओं में कवि का स्त्री-विमर्श मौजूद है: पुरुष की सबसे बड़ी ताकत है। स्त्री। कवि की अभिव्यक्ति काफी सहज और मौजमस्ती वाली है। बानगी देखिए:

मृत्यु -- मृत्यु ने
आलिंगन में बाँधा
और चूमा मुझे कई बार
पर एक दफा भी
उसने मुझसे
किया न सच्चा प्यार।

कविताओं में मौजूद एक भाषागत लय भी आकर्षित करती है।

इसी प्रकार नीलेश रघुवंशी एक चर्चित कवयित्री है। अपनी प्रारम्भिक कविताओं से ही वे चर्चा में आ गयी थी। उन्होंने अपनी कविताओं का अपनापन अर्जित कर लिया है। इनका एक संग्रह है 'पानी की स्वाद'। स्त्री जगत के इतने सच्चे और टटके अनुभव कम ही कवयित्रियों में मिलते है, जितने नीलेश के यहाँ। इनकी कविताओं की बड़ी ताकत यह है कि ये प्रचलित और चर्चित हिन्दी कविताओं में खो नहीं जाती। एक कविता है - ढेर सारे काम। यह एक दुर्लभ कविता है --

क्या तुम मार्च के अंत या अप्रैल के शुरू में आओगे?
अब तो ईर्ष्या होने लगी है तुमसे
ढ़ेरों काम याद आ रहे हैं इन दिनों
तुम्हारे लिए कपड़े, मालिश की व्यवस्था

एक आया ढूँढ़नी है अभी से, ताकि जब ऑफिस जाऊँ तो वह तुम्हें अपनी सी लगे

गर्भवती स्त्री और शिशुपालन जैसी किताबें पढ़ती हूँ इन दिनों
ढ़ेर सारे नाम खोजती फिरती हूँ
हर दिन दूध वाले की जान खाती हूँ
दिन-भर इन्हीं चकल्लसों में उलझी रहती हूँ
फिर भी काम हैं कि खत्म होने का नाम ही नहीं ले रहे।

हिंदी की जिन गिनी-चुनी कवयित्रियों ने पिछले कुछ वर्षों की सशक्त हिंदी कविता को संभव किया है उनमें कात्यायनी का नाम अग्रणी है। 'जादू नहीं कविता' इनका यद्यपि तीसरा संग्रह है, लेकिन इसमें उनकी 1987 से 1997 के बीच लिखी गई वे कविताएँ हैं, जो पिछले दो संग्रहों में शामिल नहीं हो सकी थीं। इस कवयित्री के आदर्श पाब्लो नेरूदा, नाजिम हिकमत जैसे कवि हैं और इनकी प्रगतिशील दृष्टि सामाजिक-राजनैतिक परिवर्तन की प्रक्रिया में आस्था रखती है। इसलिए यथास्थिति के प्रति एक विद्रोह इनकी कविताओं में प्रायः मिलता है। कविताओं में जहाँ स्त्री सुलभ स्त्री-पीड़ा है तो उत्पीड़ित मनुष्य का दुःख और उसका संघर्ष भी है। इनमें हर भ्रम का पर्दाफाश करते हुए सच तक पहुँचने की कोशिश और समझ है।

स्मृति स्वप्न नहीं
आशाएँ भ्रम नहीं
कविता जादू नहीं
सिर्फ कवि हम नहीं।

इस कवयित्री का कविता-कैनवास भी काफी विस्तृत है। आलोचकों, पुरस्कारों, बड़े कवियों आदि से संबद्ध कुछ दिलचस्प कविताएँ भी यहाँ हैं।

बड़े कवि लगातार सोचते हैं
और वे सोचते हैं
कि सिर्फ वे ही सोचते हैं
या कि जो वे सोचते हैं
वह सिर्फ वे ही सोचते हैं।
वे लगातार सोचते हैं
और सोचना उन्हें अकेला कर देता है।

एक छोटी-सी घटना या कि एक छोट-सा स्मृति खंड अनामिका की कविता में एक वैचारिक मनःस्थिति का प्रेरक होकर आता है। ये कविताएँ भीतर से बाहर और निजता से समाज की ओर फैलती हैं। संग्रह की कुछ अच्छी कविताएँ स्त्री और बच्चे पर केंद्रित हैं। 'ऋषिका' कविता का एक अंश उद्धृत है:--

माँ हूँ मैं, मेरे भरोसे ही
बीमार पड़ता है चाँद !
जाओ, अब दूध पिलाऊँगी मैं,
सोओ कि इसे सुलाऊँगी मैं
उफ, करवट फेरने की जगह करो
मत खींचा-तानी बेवजह करो।

अनामिका के पास दृश्य-बंधों को सजीव करने वाली भाषा है, बिंबधर्मिता पर इनकी अच्छी पकड़ है। जाड़ा और संबंध ऐसी कविताएँ हैं, जहाँ व्यक्ति की यातना भाषा के भीतर से ऐसे रिस-रिस कर आती है, जैसे आम की गुठली को देर तक चूसने पर भी स्वाद आता रहता है। भाषा की यह गुठली को देर तक चूसने पर भी स्वाद आता रहता है। भाषा की यह विशिष्टता अनामिका की अपनी विशिष्टता है।

इसके अतिरिक्त आज हिदी में स्त्री केन्द्रित कविताओं के साथ-साथ दलित केंद्रित भी अनेक ऐसी कविताएँ इस दौर में उपलब्ध हैं, जिन्हें हिन्दी कविता को मौलिक योगदान कहा जा सकता है। हालांकि यह विचारणीय है। कि क्या इन कविताओं और तथाकथित इन से बाहर की कविताओं के झगड़ों को बढ़ाया जाए या हिन्दी कविता की एक विविधरंगी मुख्य धारा को खोजा जाए। । खैर । आज दलित कविता भरत की प्रायः सभी मुख्य भाषाओं में लिखी जा रही है। मराठी में दलित कविता के मन्द-मन्द स्वर 1965-67 के आस-पास प्रारम्भ हो गए थे जबकि आज वह समकालीन मराठी-कविता का अत्यंत महात्त्वपूर्ण हिस्सा है। दलित कवियों में ऐसे कवि भी है। जो मार्क्स में आस्था रखते है। ऐसे कवियों में बदले की सी गालीगलघ्च के स्थान पर कुप्रवृत्तियों और सामाजि-आर्थिक शोषकों के दमन पर उनकी चालाकियों पर तीखे प्रहार अधिक है। मराठी दलित कविता में दलित कविता से आशय है। दलित कवियों द्वारा लिखी गयी कविता अर्थात् अस्पृश्यता, समाजिक शोषण, जातिवाद पर अन्याय के खिलाफ विद्रोह। मराठी दलित कविता की अनुवाद के माध्यम से अपनी पुस्तक 'रक्त में जलते हुए अनगिनत सूर्य' (1982) के द्वारा हिन्दी जगत को

कदाचित पहली झलक दिखाने वाले कवि दिनकर सोनवलकर के शब्दों में –' आगे चलकर दलित कविता दो दिशाओं में विकसित होने लगी–एक, अम्बेडकर, जिस पर बुद्ध के यथार्थवादी मानवतावाद का प्रभाव है। और दूसरी, मार्क्सवादी, जो समाज के आर्थिक विश्लेषण से प्रेरित है। विद्रोह (दलित कविता)इसमें भी है। लेकिन वह फेशनेबिल, सुविधाभोगी, बुद्धिजीवियों का शगल नहीं। जनवाद इसमें भी है। लेकिन वह पार्टी–पीड़ित नहीं है। और न ही साहित्य में प्रतिष्ठित होने की एक आसान सीढ़ी। दलित कविता की ताकत है।जिन्दगी के कड़ुवे अनुभव, कवियों के आंसू, खून, पसीने और उनके गुस्से ऐसे लिखी गयीं रचनाएं। उनका नाता दलितों के यथार्थ से है। अपने अनुभवों से वह गहरे से जुड़ी हुई है। मसलन मां (आई) का वर्णन इसमे भी हैं।, लेकिन वह वात्सल्य, प्रेम, लाड़–प्यार लुटाने वाली मां नहीं है, क्योंकि सी असंख्य माताएं आज भी है।, जो रद्दी कागज, लकड़ी, बोतले या लोहे के टुकड़े बीन–बीन कर अपना पर बच्चों का पेट पाल रही है। अम्बेडकरवादी कविता मार्क्सवाद के विरोध में कतई नहीं है। उसके कथ्य निखालिस 'देसी' है। पर संदर्भ भारतीय।' बहरहाल बात यदि हिदी दलित कविता की की जाए तो आज सुशीला टाभौरें, सूरजपाल चौहान, कावेरी, ओमप्रकाश वाल्मीकि, डॉ जय प्रकाश कर्दम, मोहनदास नमिशराय, सुदेश तन्वर, सूरज बडत्या, मुकेश मानस आदि कितने ही कवि है, जो इसे आवाज दे रहे है, मलखान सिंह की एक कविता 'एक पूरी उम्र' की निम्न पंक्तियों का मर्म भीतर तक हिला जाता है।–यकीन मानिए

इस आदमखोर गांव में
मुझे डर लगता है।
लगता है। कि अभी बस अभी
ठुकुराइसी मंड़ चीखेगी
मैं अध्संच ही
खेत से उठ जाऊंगा
कि अभी बस अभी
हवेली घुड़केगी,
मैं बेगारी में पकड़ा जाऊंगा ।

समकालीन हिन्दी कविता में अवसाद और चिन्ता के स्वर बहुत मिलते हैं, जो उनके विरुद्ध खड़े होने की मानसिकता तयार करते है।– त्रिलोचनी कविता की तरह ।

ज्ञानेन्द्रपति की कुछ बेहतरीन कविताएँ राजनीतिक क्रूरताओं और आत्म व्यंग्य के कठिन स्वरों का दस्तावेज हैं। उनकी कविताओं में संबंध के प्रति आत्मीय भाव भी पूरे विवेक के साथ अभी जमा हुआ है। उनकी कविताओं में 'देशज' का सौन्दर्य देखते ही बनता है। स्थानीयता या देसीपन समकालीन कविता का एक ऐसा विशिष्ट गुण है। जिसके रहते आज हर कवि को एक दूसरे का समकालीन भी कहा जा सकता है और एक दूसरे से अलग भी । मानबहादुर सिंह के यहाँ अवध का सहज रंग मिलता है। तो विजेन्द्र के यहाँ राजस्थान का । खुद मेरी कविताओं के एक विशिष्ट गुण के रूप में कवि केदार नाथ सिंह ने मेरी कविताओं में सहज ही उपस्थित हरियाणवी पर हरियाणे को माना है। असल में लोक (लोक कथाएं, मुहावरे, गीत इत्यादि) से आज की कविता न केवल अपनी अनुभव सम्पदा को पर समृद्ध करती है। बल्कि कलागत क्षमताओं के लिए भी लोक का बड़े स्रोत के रूप में उपयोग करती है। जो मेरी निगाह में एक सही पर महत्त्वपूर्ण रास्ता है। नवीनतम पीढ़ी के रचनाकारों को इस ओर विचार करना चाहिए । एक कवि है। आलोकधन्वा । इनकी कविताओं से भी सीखा जा सकता है।

चलते-चलते चार-पांच कवियों का और जिक्र करना चाहूँगा। एक हैं मॉरिशस के हेमराज सुन्दर जिनकी कविताओं के संग्रह का नाम है - 'अस्वीकृति में उठे हाथ', दूसरे हैं सुन्दर चंद ठाकुर जिनका कविता-संग्रह है, 'किसी रंग की छाया, तीसरे हैं, डॉ. कृष्ण कुमार जिनके चार कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं, चौथे हैं केरल के अरविंदाक्षन जिनके संग्रह का नाम है - 'घोड़ा' और पांचवे है।-विश्वरंजन जिनकी कविताओं से मेरा परिचय अपेक्षाकृत नया है। उनकी अच्छी कविताओं के दूसरे संग्रह का शीर्षक है। 'आती है। बहुत अंदर से आवाज' ।

सोमदत्त बखौरी की पीढ़ी के बाद, अभिमन्यु अनंत के शब्दों में, 'हेमराज सुन्दर ने - अपने समय के नवोदित कवियों में कविता के नए तकाजे की पहल की है।' वस्तुत: इनकी कविताओं में आक्रोश तो है, लेकिन मात्र उत्तेजना एवं कुंठा नहीं। कुछ पंक्तियाँ हैं -

एक है सूर्य एक है चन्द्रमा
धरती-गगन एक है
परी तालाब से सागर तक फैला
सारा मॉरिशस एक है।

सुन्दरचन्द ठाकुर एक सशक्त कवि है, जिनके पास अपना एक भाषा-मुहावरा है। कुछ ही पंक्तियाँ देखें–मेरी नींद में सपने खत्म नहीं होते

मेरी आँख में उम्मीद अटकी रहती है
मेरे पाँव में लिपटी रहती हैं यात्राएँ
मेरे हाथ कभी खाली नहीं रहते।
(मैं आदमी हूँ)

स्पष्ट है कि ये पंक्तियाँ एक बहु-वांछनीय परिवेश की ओर तो इंगित करती ही हैं, आज समेत किसी भी समय के किसी भी 'विमर्श' को स्वर देने में भी समर्थ हैं। कुछ और पंक्तियाँ देखें–'हत्यारा खून से लिख रहा है प्रार्थना

मंच पर खड़ा है मसखरा

कविता की तरह थी यहाँ एक स्त्री
उसकी चुप्पी दिनों-दिन बढ़ती ही जाती थी

समारोह में बंटते थे प्रशस्ति-पत्र - पुरस्कार
कविताओं में बढ़ता जाता था व्यापार।

उसके ऊपर एक पंखा
उसकी नींद की रखवाली करता घूमता रहता है।
दृश्य से जा चुकी वह चिड़िया
अभी बची हुई है वहाँ
उसके पंजों के नीचे दबी घास
खुल रही है धीरे-धीरे
वातावरण में
उसकी कूक की अनुपस्थिति मौजूद है।
स्त्री को थकान लगती थी और नींद आती थी
पुरुष उससे एक कप चाय की फरमाइश करता था।

कृष्ण कुमार के यहाँ ऊँचे मूल्यों के स्खलन की चिन्ता को लेकर बहुत ही अच्छी और गंभीर काव्याभिव्यक्तियाँ हैं। वे तीखे सवाल उठाती हैं। उनके पास रूढ़ि भेदक दृष्टि है। ऊपर से लग सकता है उनके यहाँ अध्यात्म ही

अध्यात्म है, लेकिन गहरे में सामाजिक विसंगतियों, मूल्य-स्खलन आदि का व्यंग्यपरक एवं संवेदनात्मक परिदृश्य मौजूद है।

अरविंदाक्षन की कविताओं की मूल चिन्ता पृथ्वी के सौन्दर्य को विनाश से बचाने की है। धरती को नष्ट करने वाले धूमकेतुओं से कवि सावधान करना चाहता है।

विश्वरंजन एक समर्थ कवि है। चाल धीमी सही पर कदम पुख्ता है। उनके पास एक दृष्टि-मंत्र भी है।–

जब सबकी हो जाती है। जमीन सामूहिक हो जाता है। मंत्र

यह कवि बहुत गहरे तक चालाकियों और दर्दों की पहचान रखता है। लेकिन इनके यहाँ विद्रोह 'अफसोस' और 'आक्रोश' के रूप में अधिक है–

बच्चे जवान होने से पहले ही। मार दिए जाएंगे इस बाहरी दुनिया में
बाजार दैत्य बन नाचेगा। और मांगेगा रक्त, आसमान में छींट उड़ेगे खून के,
पर उड़ेगी गर्दो-गुबार ।
क्या सचमुच समझ पा रहे है। हम
नजफगढ़ या
उस जऐसे तमाम
शहर बन रहे गावों का दर्द और
बाजार का रेंगता-सा खूनी पंजा ?

और ऐसा सब देख-समझ कर कवि अपने अन्दर उतरने लगता है। एक कविता हैं।, 'श्रीनगर की सड़कें पर दूर दिल्ली में जा बसे कुछ लोग' जो सपनों को बचाए रखने में विश्वास जगाती है।' अब बचपन के दिन कहाँ' जसी कविताएँ इसलिए मजबूत है। क्योंकि इन्होंने अपना शिल्प खुद तलाशा है। अनेक सी कविताएँ है। जो हाँट करती है। क्योंकि उनमें बहुत ही भयावह स्थितियों के मार्मिक चित्र है। विस्तार भय के बावजूद एक बहुत ही अच्छी कविता 'मेहमान' का इसलिए जिक्र करना चाहूँगा क्योंकि इस छोटी सी कविता में घर-परिवार की पूरी देसीयता और संस्कृति बड़ी क्रिस्पी रूप में व्यक्त हुई है। और वह प्रभावशाली है। इसमें हमारी मध्यवर्गीय मनोवृति की एक सच्ची छवि है।–

जब नहीं आता हे मेहमान
घर में कब्रिस्तान का फैलाव होता हैं।
आज भी नहीं आया कोई मेहमान घर में
घर में कब्रिस्तान का सन्नाटा है।

अंत की ओर आते-आते यहाँ मैं एक मुद्दा उठाना चाहता हूँ हालांकि यह बहुत नया भी नहीं है। विशेष रूप से आज के युवा कवियों के समक्ष । आज दलित विमर्श हैं।, स्त्री विमर्श है। और आदिवासी विमर्श भी हो सकता है। सबके अपने-अपने सौन्दर्य-शास्त्र भी बन चले है। फिर भी जिस मुद्दे को यहाँ उठाने वाला हूँ वह ऐसा है। जिसका वास्ता सबसे पड़ सकता है। व्यापक रूप में प्राय: सब कलाओं से। अत: मेरी निगाह में महात्त्वपूर्ण है। बात युं शुरु की जा सकती है। कि कलाकार (जिसमें कवि भी सम्मिलित है।)और समाज के रिश्ते को लेकर प्राय: दो दृष्टिकोण मिलते है। एक यह कि कलाकार एक विशिष्ट व्यक्ति होता है। वह जो कुछ भी रचता है। वह ईश्वर से मिली अपनी प्रतिभा के के बल पर ही रचता है। वह पदा ही मौलिक प्रतिभा लेकर होता हे। सी दृष्टिवाले लोग कलाकार की निष्ठा खुद कलाकार और उसकी कला तक ही सीमित मानते है। ऐसी स्थिति में उनकी धारणा है। कि कलाकार की दुनिया में किसी को भी दखल देने का कोई अधिकार नहीं होता। अत: उनके लिए सामाजिक मुद्दा कोई मुद्दा ही नहीं होता ।तब वह कलाकार एक ऐसी आधुनिकता को जीता है।जो 'व्यक्ति' पर किसी प्रकार के अंकुश या रोक का विरोध करती है। उसकी मानसिकता 'मुझे समाज से क्या लेना-देना' वाली होती है। समाज पर वह अहसान ही करता नजर आता है। समाज का उस पर कोई अहसान नहीं होता । दूसरा यह कि कलाकार अन्तत: समाज ही की देन है। वह समाज निरपेक्ष हो ही नहीं सकता । समाज से संबंध की हर सोच से उसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष लेना-देना होता है। वह समाज के प्रति प्रतिबद्ध होता है। जिसके अभाव में वह महत्त्वपूर्ण और मूल्यवान कला या रचना दे ही नहीं सकता। अत: वह समाज के प्रति उत्तरदायी और कृतज्ञ होता है। समाज के हित में वह हमेशा अपने विवेक को जागृत रखना चाहता हैं।।

इन दो दृष्टिकोणों के आधार में मूल अन्तर कदाचित् कला-कर्म की प्रकृति को लेकर है। कलाकर्म को आत्मनिष्ठ मानने वाले उसे प्राकृत कर्म मानते है। जबकि उसे सामाजिक मानने वाले एक चेतन कर्म मानते है। चेतन कर्म में अपने लक्ष्यों के प्रति कलाकार जागरुक रहता है। वह अर्जित किए हुए व्यक्तित्त्व की सज्जन-क्षमाताओं से लिखता है। उसकी कला एक ऐसा रूप अर्जित करती है, जो दूसरों की मानसिकता में प्रवेश कर उसे प्रभावित करती हैं, उसे दूसरों से जोड़ती है। इस तरह कलाकार की सामाजिक प्रतिबद्धता दूसरे की सामाजिक प्रतिबद्धता बन जाती है। दूसरी ओर आत्मनिष्ठ कलाकार अपनी निजता को ही

रचता रहता है। अपनी मौलिकता के नाम पर अजूबा भी बनने का खतरा उठाता है।

अब सवाल यह है। कि जब समाज स्वयं परिवर्तन्शील हैं।, जब उसके मूल्य ही स्थिर नहीं है, जब दुनिया में अनेक सामाजिक-राजनीतिक व्यवस्थाएं है, नए समाज की अनेक अवधारणाएं है। तो कलाकार कैसे उसके प्रति प्रतिबद्ध होकर स्थायी या शश्वत मूल्यों की कला दे सकता है। और यह भी तो हो सकता हे कि जिस कला को एक कलाकार समाज के हित में मान रहा हैं, वह समाज को अपने हित में ही न लगे। और यह भी कि इस विविध रंगी समाज के किस रंग के प्रति कलाकार प्रतिबद्ध हो।

ये उलझाव अपनी जगह सही हो सकते है। तो भी मैं इन्हें सामाजिक प्रतिबद्धता की राह में बड़ी रुकावट नहीं मानता। मोटे तौर पर हर कलाकार अपने समंय के योग्य चिन्तन की तस्वीर पेश किया करता है। उसी के सहारे वह दूसरे लोगों को उस चिन्तन को परखने और अपनाने के लिए प्रेरित भी करता हैं। सच्ची कला जनता के दु:ख-सुख की पहचान ही नहीं कराती बल्कि विकल्प के रूप में एक नयी योग्य दुनिया की खोज के लिए प्रेरित भी किया करती है। ऐसा प्रयत्न उन रचनाकारों का भी रहा है। जिन्होंने साहित्य का उद्देश्य 'स्वान्त: सुखाय घोषित किया है। 'स्वन्त: सुखाय' की बात करके वस्तुत: कलाकार उन बाह्य प्रभावों के प्रलोभनों के नकार की बात करता है। जो उसे उसके सच्चे विवेकशील रास्ते से हटा कर सत्ता या व्यवस्था का चाटूकार या पिच्छ्लग्गू बनने की राह पर धकलेने का प्रयत्न किया करते है। उसे इस्तेमाल की वस्तु में बदलने की कोशिश किया करते है। जिनके रहते वह अपनी बात कहने तक को स्वतन्त्र नही रह पाता।

यह भी अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि कला का समाज से कोई यांत्रिक संबंध नहीं होता हाँलाकि कला पर समाज के विकास का परस्पर सबंध गहरा होता है। मुक्तिबोध के अनुसार, 'मानव-चेतना, वस्तुत: मानव-संबंधों से निर्मित तथा उससे उद्‌गत चेतना है। ये मानव-संबंध समाज के विकास के साथ परिवर्तित होते रहते है। तथा समाज की विशेष स्थितियों की उनमें विशेषताएं प्रकट होती रहती है। विशेषता संयुक्त ये मानव-संबंध, मानव-चेतना की मूलभूत नींवें है, जिनके आधार पर कला, दर्शन, धर्म तथा साहित्य की सृष्टि होती है। इन्हीं मानव-संबंधों की अवस्था-विशेष के अनुसार मानव की विश्व-दृष्टि भी बनती है। निश्चय ही उसकी यह दृष्ट उसकी चेतना का ही अंग है।....चेतना कोई

व्यक्तिगत वस्तु नहीं होती, उसके वस्तु-तत्त्व भी सामाजिक होते है। ऐसे समय में जबकि मानव-विरोधी शक्तियां पूर जोरों पर है।, बाजार हावी होता चला जा रहा है। और कला को धीरे-धीरे निष्क्रिय और निष्प्राण बना देने की साजिशें चल रही है, रचनाकार या कलाकार को इन मानव-विरोधी ताकतों के प्रति अतिरिक्त रूप से सजग होना पड़ेगा। लेकिन रचनात्मक चुनतियों का सामना करते हुए। प्रतिबद्ध होना किसी कलाकार के सही दिशा या सोच की ओर होना तो होता है। लेकिन कलाकार की कला के उत्कृष्ट होने की वह गारंटी नहीं होता। इसीलिए अपनी कला की उत्कृष्टता के लिए कला की कलात्मक अपेक्षाओं अर्थात् क्षमताओं के प्रति उसे उदासीन नहीं होना होता। अत: दलित-विमर्श हो या स्त्री-विमर्शय आदिवासी -विमर्श हो या गरीब-विमर्श ये कला में कोरे नारे या दिखावे नहीं हो सकते। ये कविता य किसी भी कला-रूप में फ्रेम में जड़ाऊ मात्र नहीं होने चाहिए, अन्यथा रचना या कला दो कौड़ी की बन कर रह जाएगी भले ही बात या विचार कितना ही ग्राह्य क्यों न हो। मेरा तो ऐसा ही मानना है।

अंत में यह तो कहा ही जा सकता है कि हिन्दी कविता निरन्तर गतिशील है और एक से एक शिखर संभव करने को लालायित भी। बावजूद गद्य की चुनौतियों के। उसे सामने लाने में आज तो कितने ही 'वैब जाल' भी सशक्त भूमिका निभा रहे हैं। हर जागरुक पाठक और रचनाकार इन वैब जालों से आज परिचित है। इनके माध्यम से हिन्दी कविता पूरे विश्व के हिन्दी रचनाकारों और पाठकों को एक साथ जोड़ने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है। अनुभूति, अभिव्यक्ति, सृजन गाथा, गर्भनाल और हिन्दी नेस्ट (बोलोजी) आदि अत्यंत महत्त्वपूर्ण हिंदी वेब जाल हैं। और अन्त में कवि त्रिलोचन के शब्दों में 'हिन्दी कविता उनकी कविता है, जिनकी सांसों में आराम नहीं था।'

6

समकालीन हिंदी कवियों का सामाजिक बोध

समकालीन हिंदी कविता का वर्तमान दौर स्वयं में एक विकसित संवेदना का सशक्त दौर कहा जा सकता है। अपने तमाम अर्थों में यह तो स्पष्ट है कि बहुत से कवि कविताई के केन्द्र में न होकर राजनीतिक झंडेबाजी के शिकार हुए हैं, लेकिन कुछ कवि ऐसे भी हैं, जो अपनी भूमिका में तटस्थ हैं। वे जन-संवेदना की आवाज को सुन रहे हैं। अपने समय की विसंगतियों को झेलते हुए बहुसंख्य जन-जीवन के शिरमौर बने हुए हैं। यह भी सही है कि वर्तमान दौर कलमकारों के जन-जीवन-जमीन से हटकर पुरस्कार-प्राप्ति की श्रेणी में अपना स्थान सुरक्षित रखने का दौर है, फेसबुक से लेकर व्हाट्सएप तक भागदौड़ लगाकर प्रसिद्धि और शोहरत प्राप्त करने का दौर है, लेकिन यह भी अपनी तरह का एक सच है कि इन्हीं वर्तमान कवियों में से बहुत से कवि ऐसे है, जिनकी कवि-दृष्टि में मनुष्य और मनुष्यता का भविष्य सुरक्षित दिखाई दे रहा है। इस लेख में ऐसे ही कुछ कलमकारों पर चर्चा करने का प्रयास किया गया है।

कवि अपने वर्तमान की तमाम विसंगतियों से ढंके हुए समय को जीता ही नहीं परखता भी है कहीं गहरे में डूबकर। परख की प्रक्रिया में वेदना और सघन अनुभूतियों की विचलित करती अन्तर्दशा में, उसका अपना बहुत कम समाज का अधिक होता है। अपने आस-पास के परिवेश में यथार्थ मानवीय संभावनाओं को

तलाशते हुए डूबने की प्रक्रिया में चौकन्ना वह होता जरूर है। समस्याएँ उसके सामने से आकार ले रही होती हैं तो कविता उन समस्याओं से संवेदना ग्रहण कर रही होती हैं। कुंवर रवीन्द्र अपने समय के ऐसे ही कवि हैं, जो आकार और संवेदना के मध्य खाली स्पेस को भरने का सफल प्रयास करते दिखाई देते हैं।

इनकी कविताओं को पढ़ते हुए यह आभास होता है कि समय का समकाल एक डरावने आकार में हमारे सामने खड़े होकर हमें ललकार रहा है तो संवेदना का आदर्श उस ललकार के प्रतिरोध में एक माहौल बना रहा है। इस माहौल में कवि के "सामने है। एक दृश्य या उसका चेहरा बेहद कोमल रंगों से भरा मगर एक लम्बी अंतहीन दूरी और सन्नाटे की काली लकीर भी झुर्रियों की तरह खिंची हुई।...सामने है। उसका चेहरा या एक दृश्य छुअन से लजाई एक किनारे सिमटी, बहती नदी मिलन की प्रफुल्लता से भरा क्षितिज और... नई सृष्टि की कल्पना में अपलक आकाशगंगा को निहारता क्रौंच का एक जोड़ा भी" अब यह कवि का साहस है कि इन सब के साथ जुड़ते हुए 'नई सृष्टि की कल्पना' को साकार करने का सार्थक उपक्रम वह कर सके। साहस इसलिए भी क्योंकि हमारे समकालीन परिवेश में पुराने सांचे में ही नई संभावनाओं को रंगने का उपक्रम बड़ी सिद्दत से किया जा रहा है जबकि कवि अपने व्यवहार में किसी भी गढ़े गये सांचे और रंग में स्वयं को देखे जाने से परहेज करता है। वह "लाल, नीला, केसरिया या हरा, नहीं होना चाहता" वह अपनी भूमिका में "इन्द्रधनुष होना चाहता" है "धरती के इस छोर से उस छोर तक फैला हुआ।"

कवि निश्चित ही सामाजिक जीवन की विसंगतियों से आक्रान्त है। हमारे तथाकथित सभ्य समाज में भूमंडलीकरण का यथार्थ मनुष्यता को बाजार की वस्तु के रूप में परिवर्तित करके रख देगा, यह किसी को नहीं खबर थी। कवि का यह कहना "जब से हम सभ्य हुए बस तब से ही ढूंढ रहा हूँ उस आदमी को जो अपने बीच कहीं किसी शहर किसी गाँव में गुम हो गया है बाजार में" मानवीय मार्ग से बिछड़कर बनावटीपन की हद तक प्रवेश कर चुके मनुष्य का आत्मीय ब्यान है। यह ब्यान इतना विश्वसनीय हो गया है कि हमारी अपनी समझ पूर्ण रूप से कुंद हो चुकी है। समझ का कुंद होना जिन्दा होते हुए भी मरे मुर्दे की शक्ल में सांस लेना है। यह इसलिए भी क्योंकि हमारे सुख-समृद्ध होने की निशानी में आत्म निर्णय की भूमिका न होकर किसी दूसरे के डर और भय का आतंक है--"मैं चीख कर बोला हम आजाद है। अपनी कनपटी पर टिकी हुई पिस्तौल को छुपाते हुए उसने कहा हम आजाद हैं। अभी-अभी लुटी अस्मत के

दाग शरीर से मिटाते हुए, फिर सबने कहा एक स्वर में, हम आजाद हैं। और डूब मरे चुल्लू भर पानी में, शर्म से"।

राजनीतिक पैंतरेबाजी की सभी प्रक्रियाओं को झेलता हुआ जितना अधिक आम आदमी पस्त है कवि उससे कहीं अधिक लोकतंत्र के भविष्य को लेकर हैरान है। ऐसा तंत्र जहाँ सबको समान अधिकार हो और सबके द्वारा शासन की भागीदारी तय हो, वहाँ आम आदमी का अभी तक यह प्रश्न करना कि "अरे भाई! लोकतंत्र का मतलब समझते हो?" प्रजा और राजा की मान्य धारणाओं पर सबसे बड़ा मजाक है। यह मजाक कैसे यथार्थ होकर हमारे राजनीतिक परिवेश की तमाम बनी-बनाई धारणाओं को ध्वस्त करता है वह इस कविता में आसानी से देखा जा सकता है

मली हुई तम्बाखू
होठ के नीचे दबाते हुए
उसने पूछा
अरे भाई! लोकतंत्र का मतलब समझते हो?
और सवाल खत्म होते ही
संसद की दीवार पर
पीक थूक दी
थोड़ी दूर पर
उसी दीवार को
टांग उठाये एक कुत्ता भी गीला कर रहा था
लोकतंत्र का अर्थ
सदृश्य मेरे सामने था।"

ऐसे अर्थ में लोकतंत्र का ही चेहरा नहीं बेनकाब होता हमारे अपने समाज का ढांचा भी बेनकाब होता है। यह भी सच है कि बदले हुए समय में राजनीतिक सच एक षड्यंत्र के रूप लेकर घिरे हुए बादल के रूप में हमें डरा रहा है। बरसने की क्षमता उसमें नहीं है, लेकिन हवा के वेग से बस्ती-उजाड़ की संभावनाएं तेज तो हो ही गयी हैं। ऐसे लोकतान्त्रिक सच के यथार्थ में उसे पता है कि "जिस तरह, बनैले सूअर को, हाँका लगाकर, घेरकर मारा जाता है। वैसे ही। इस देश के जन सके। मारे जा रहे हैं। और मारे जायेंगे"

शब्दों की ऊष्मा में विचारों की टकराहट काव्यात्मकता के माध्यम से स्वस्थ संवाद को आमंत्रित करती है। जन-जीवन-जिजीविषा में उलझे हृदय को

आशाओं के अंतिम अवस्था तक चलने के लिए प्रेरित करती है। दीपक मिश्र की कविताएँ ('सन्नाटा', 'मेरे दोस्त' और 'कुछ इस तरह से')आशाओं और निराशाओं के मध्य झूलते मनुष्य की ब्यान हैं। समय की मार से पीड़ित मानवीयता की पुकार है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि एक तरफ "जब सूरज अपनी नीरवता में, उगने की तैयारी कर रहा था आदमी कशमकश में था- जगे या न जगे तब एक बहुत...बहुत बड़ा तबका प्रतीक्षा कर रहा था कुछ होने की किसी के आने की कुछ एक ब एक घटने की" लेकिन आज तक उसकी प्रतीक्षा गहरे अर्थों में प्रतीक्षा ही रह गयी है। सूर्य के उगने के साथ वह उठता है और सूर्य के डूबने के बाद तक वह चलता रहता है। "धुल और धूप से सने" संघर्षों में किसी तरह जीवन-यापन करते हुए आज भी "लोग पूरे इत्मीनान के साथ दोनों हाथों को बांधकर करते हैं। इंतजार अनागत के आने का" पर यह उसका हतभाग्य ही है कि सूर्य के रूप में जो भी आया उसने अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा के साथ छला ही है। छलने की प्रक्रिया में शोषक 'जातियों' का चीत्कार और शोषित होने की प्रक्रिया में सहायक 'कौमें' अपने अस्तित्त्व की दुहाई देते हुए समय-संसार को विनष्ट करने का ढोंग रचते प्रतीत होती हैं। उनके लिए कवि का यह कहना आश्वस्त करता है कि "मुर्दा कौम और बेजमीर जाती सदा से इतिहास के हाशिए पर रहती है।.. "सन्नाटे के टूटने की प्रतीक्षा करती हुई"

दूसरी कविता में कवि के सामाजिक जिम्मेदारियों से भाग कर स्वयं को निष्क्रिय कर देने की स्थिति है। कविता अपने गहन अर्थों में मनुष्यता की तलाश है। होने न होने के बीच विश्वास की जमीन तलाशते हुए सब कुछ होते देखने का यथार्थ है। इस अर्थ में भी कि, समय कलुषता में मनुष्य बदल सकता है अपने होने की अर्थवत्ता लिए लेकिन कविता अपनी बनावट और बुनावट में भटके हुए मनुष्य का विश्वास है। इस अर्थ में, 'क' से शुरू होने वाली कविता क्रांति देवी के साथ ही अप्रासंगिक हो गयी है" जैसा अतिविश्वास मानवीय गरिमा को कठघरे में खड़ा करता दिखाई देता है। यह भी कि व्यवस्था के फंदे में जकड़ी मानसिकता मानवीयता का पक्ष ले कर चलने में स्वयं को कमजोर पाती है। बुद्धि खुरापात करते दिखाई देती है तो हृदय बचाव की मुद्रा में होता है। वैचारिकता के केन्द्र में स्वयं को रखते हुए रोजी-रोटी से लेकर समय-समाज की समस्याओं तक जुड़कर रहना आसान कार्य भी नहीं है। ऐसी अवस्था में कई बार व्यक्ति कर्म-शैथिल्यता का शिकार हो जाता है तो कई बार निष्क्रियता की श्रेणी में स्वयं को रखकर सामाजिक जिम्मेदारियों से मुक्ति पा लेना चाहता है।

कवि की यह स्वीकारोक्ति कि "मुझे यह बताने में, कोई शर्म नहीं है। कि रोज ही विचारों द्वारा सभ्यता का बलात्कार करते हुए देखता हूँ और- अपनी नपुंसक हतवीर्यता में लिथड़ा सो जाता हूँ" जिम्मेदारी से हट कर मन-मस्तिष्क को अकर्मण्यता के हवाले कर देना है।

तीसरी कविता में मानवीय स्वभाव की गहन परख की गयी है। संघर्षों से उठा व्यक्तित्त्व यदि अपने इतिहास को नहीं भूलता है, समय को प्रभावित और समाज को संस्कारित करता है। उसके बढ़े हुए कदम पीछे नहीं हटते और एक समय जमे हुए को चुनौती दे जाते हैं, लेकिन जो व्यक्ति मजबूरियों से उठकर अपना इतिहास और अपने दिन भूल जाता है उस समय "कुछ इस तरह से भेड़ बनता है आदमी कि तनी हुई मुट्ठी एक मुश्त हथेली बनती और लाचार फैल जाती है।" फैली हुई हथेली मनुष्य के अस्तित्त्व विहीन होने की परिकल्पना ही नहीं यथार्थ भी है। दूसरे, जब व्यक्ति के दिन बदलते हैं तो वह स्वयं को सर्वेसर्वा समझने लगता है। परिवेश से उठा व्यक्तित्त्व परिवेश को देखकर ही गाली देने लगता है। कवि की दृष्टि से यदि सहमती जुटाते हुए कहा जाए तो अपने अच्छे दिनों में "कुछ इस तरह पेश करता है। खुद को, कि आदमी अपने बाप तक को भूल जाता है।'

फिलिस्तीन – 2014 का दिग्दर्शन करने के बाद हाल-फिलहाल कुछ भी कहने की स्थिति में नहीं हूँ। अब यह इस कविता की सफलता है या फिर बंजर होती मनुष्यता को देखने की विवशता, पंगु होती मानवीयता में लगे कोढ़ के रिसते घाव की भयावहता है या फिर तमाम संघर्षों के दरम्यान बढ़ती जाती जीवन जीने की जीवटता, स्तब्धता और मूकता की स्थिति को स्वीकार करना पड़ता है। इन कविताओं के हवाले से बात करें तो यह आज भी चिंतन और चिंता का विषय है कि आखिर युद्ध किसलिए? मजबूरी तो बिल्कुल नहीं होता युद्ध शौक हो तो यह बात अलग है। खेल की प्रवृत्ति में समन्वय की शिक्षा देना हर समय मानवीय स्वभाव रहा है और यदि नहीं भी रहा है तो शान्त वातावरण में सृजन के कलरव के साथ जीवन की शुरुआत करने वाले मानवीय लोक में ऐसा वीभत्स खेल किसलिए? यह भी सच है कि युद्ध आम आदमी ने कभी नहीं चाहा है। सुविधाखोर और लम्पट नर पिचासों की कभी न शांत होने वाली अमानवीय भूख का प्रतिफल जरूर रहा है युद्ध, जिसे भुगतना हर समय जनसामान्य को ही पड़ा है। यदि युद्ध यह सब नहीं है और नहीं रहा है तो फिर उनके बारे में नहीं, जो संपन्न हैं, समृद्ध हैं, स्थापित हैं, "उन लोगों के बारे में

भी सोच कर देखिए जरा जिनकी कोई हस्ती नहीं, न घर अपना न आजादी, न कोई मुल्क और मर्जी जो कई पीढ़ियों से अपनी जड़ें तलाश रहे हैं। मुसलसल। इसी रेत और मिटटी में, और बेसब्र हैं जानने के लिए अपने होने का मतलब और मकसद।" यह इन्हीं लोगों से बात करने पर पता चल सकता है, दिखाई दे सकता है, जाना जा सकता है कि "बच्चों का बचपन, युवाओं का प्रेमपत्र, औरतों की अस्मत और बुजुर्गों की शामें, सब की सब गिरवी हैं आज जंग और दहशतगर्दी के जालिम हाथों...।" ये जालिम अपने बनावट और बुनावट में इतने शातिर हैं कि पक्षियों के कलरव, कोयल के कूक और मुर्गे की बाग को भी शक की निगाहों से देखते हैं और थोडा भी मौका पाए नहीं कि मार देना चाहते हैं। कवि युद्ध में मारे गये मासूम बच्चों और विलाप करती औरतों के माध्यम से यथार्थ का अंकन करते हुए धर्मांध निजामों का जो हवाला देता है, यह गवाह है समकालीन परिवेश में व्याप्त सत्ता और सम्प्रदाय के आवरण में लिपटे सुविधाभोगी नरपिशाचों के आतंक काद्य "आप इस बच्चे की मासूमियत और औरतों के स्यापे पर हरगिज मत जाइये कौम के लिए फिक्रमंद निजामों की नजर में, यह बच्चा चौनों-अमन के लिए एक बड़ा खतरा साबित हो सकता था खतरा भी खासा बड़ा कि मारना पड़ा उसे मिसाइल के इस्तेमाल से और आँख भर दुनिया देखने के पहले बंद कर दी गई उसकी आँखें हमेशा के लिए।"

फिलिस्तीन 2014 की कविताएँ महज फिलिस्तीन में होने वाले नरसंहार को ही नहीं दर्शाती...सम्पूर्ण वैश्विक धरातल पर होने वाले अमानवीय व्यापार का चिट्ठा खोलती हैं। सत्ता और संप्रदाय की आड़ में सुख तलाशते मगर्मच्छीय दृष्टि की पहचान बताती हैं। सुख की परिकल्पना में दु:ख की अपार वेदना के साथ जलभुन मर जाने की नीयति से साक्षात्कार कराती हैं–उन भयावह स्थानों से रूबरू होने का अवसर देती हैं जहाँ "जमींदोज होती बस्तियों में कब्रगाहों से भी कम रह गई हैं मकानों की तादात।" ऐसे बस्तियों से गुजरते हुए युद्ध से बेतरतीब प्रभावित मोहल्ले, देश-प्रान्त और औरतों-शिशुओं के माध्यम से कवि का यह कहना कि "यह जश्न मनाने की जमाने है। ऐसे वाकये यहाँ रोजमर्रा के नजारे हैं। यहाँ बारूद की शाश्वत गंध के बीच बम और कारतूसों की दीवालीध और सुर्ख-ताजा इंसानी लहू के साथ होली सा खेल खेलने की रवायत है जैसे" जनमानस की विवशता और वर्चस्व के खूनी खेल में दफन होती मानवीय संभावनाओं के यथार्थ को दर्शाना है।

फिलिस्तीन को तो मैंने अभी तक नहीं देखा लेकिन कश्मीर की स्थिति से बहुत कुछ प्रभावित जरूर रहा हूँ। यह परिदृश्य तो वर्तमान है ही कि जिन बच्चों के हाथ में खिलौने होने चाहिए उनमें बंदूकें और पत्थर थिमा दिए गये हैं। जिन निगाहों में जीवन जीने के सुनहरे स्वप्न होने चाहिए उनमें दहशत और भुखमरी के यथार्थ कुलीचें मार रहे हैं। जिस यौवन को बचपने और युवावस्था के बीच के उल्लास में हर समय निमग्न रहना चाहिए वे भय और कुंठा के दलदल में धंस कर असमय जीवन की इहलीला को समाप्त करने के लिए विवश हो रहे हैं। यहाँ के यथार्थ से साक्षात्कार होने के बाद ऐसा कौन सा हृदय है जो यह सोचने के लिए विवश न होता होगा कि "कभी रही होगी यह सभ्यताओं के उत्स की धरती पैगम्बर की पैदाइस और मसीह के, वकार की पाकीजा जमीन अभी तो यह मनुष्यता के अवसान की जमीन है।" ऐसी जमीन जिसमें "बादलों और परिंदों की खातिर कोई जगह नहीं अब काले चिरायंध धुंए से भरे आसमान में। बारूद की चिरंतन गंध ने अगवा कर लिया है। फूलों की खुशबू।..वनस्पतियों का हरापन।" सूख गया है यौवन। बंजर हो गया है जीवनद्य उस पर भी प्रतिफल यह कि प्रतिपल-प्रतिक्षण मनुष्य के साथ कीड़े मकोड़े जैसे व्यवहार हर समय किये जा रहे हैं।

सत्ता और शासन की जुगाली में स्वयं को मशगूल कर के रखने वालों के लिए युद्ध एक फैशन हो सकता है, लेकिन रोजी-रोटी की उपलब्धता में व्यस्त जनसमुदाय के लिए इसकी क्या उपयोगिता है यह लम्बे समय से चिंतन का विषय रहा है। सच यह भी है कि सत्ता के लोभियों और संप्रदाय की आड़ में नर पिशाचों के लिए "कुछ बचे रहेंगे तो इतिहास के कुछ जर्द पन्ने और उनमें दर्ज तुम्हारी फतह के टुच्चे किस्से" लेकिन लोक फिर भी ऐसे ही हँसता मुस्कुराता रहेगा। अपने आशावादी जीवन के अनुरूप।

"इसी रेत और मिट्टी में एक रोज
फिर से बसेंगे
तंबुओं के जगमग और धड़कते डेरे
बच्चे बेफिक्र खेलेंगे नींद में परियों के साथ
और भागते-फिरेंगे अपने मेमनों के पीछे
औरतें पकाएंगी खुशबूदार मुर्ग रिजला
और खुबानी मकलुबा मेहमानों की खिदमत में
सर्दियों की रात काम से थके लौटे मर्द

अलाव जलाए बैठ कर गाएंगे अपने पसंद के गाने
बुजुक और रबाब की दिलफरेब धुनों पर
एक दिन लौट आएंगे कबूतरों के परदेशी झुंड
बचे हुए गुम्बदों और मीनारों पर ...
फिर से अपने-अपने बसेरों में।"

कवि के लिए यह कहना कि वह समकालीन हिंदी कविता का प्रमुख हस्ताक्षर है (और वह है भी) इन कविताओं के नजरिये से बेमानी होगी। यह कविताएँ अपनी बनावट और बुनावट में युद्ध और शांति पर लिखी गयी कई अन्य कविताओं के समक्ष बिल्कुल कमजोर नहीं ठहरती। इसलिए समकालीन हिंदी कविता न कहकर समकालीन कविता के दायरे में रखना ज्यादा उचित होगा। मेरी दृष्टि जहाँ तक जाती है वहाँ तक कवि-दृष्टि की यह परिपक्वता विश्व-साहित्य के लिए अति आवश्यक हैं।

जीवन को जीना यदि साहित्य है तो साहित्य को जीना जीवन है, यह यहाँ आकर आभस हो रहा है। कहीं न कहीं मुझे कविता का समकाल बहुत ही डरावना और भटका हुआ काल लगता है। खासकर तब जब कुछ स्वनाम धन्य कवियों को पढ़ता हूँ। शायद उन्होंने सब कुछ कह देने की स्थिति को ही कविता मान लिया है। ऐसी स्थिति में पाठक यह नहीं निर्धारित कर पाता कि अब वह क्या ढूंढें कविता में? मेरी समझ में कविता वहीं प्रभावी होती है जहाँ कुछ दूर अपनी काल्पनिकता के साथ यात्रा करने के लिए पाठक मजबूर हो जाये।

इधर अरुण शीतांश की कविताई आश्वस्त करती है। गंवई परिवेश से आकार लेते हुए ठीक लोक-संवेदना में प्रवेश कर जाना कवि को आता है। कवि संवेदनशीलता की यथास्थिति पर अपनी रचनात्मकता को बलि-बेदी मुहैया न कराकर उसे कलात्मक अभिव्यक्ति देता है। वह जानता है कि जल से मछलियों को पकड़ कर "बेरहमी से खींच कर ला पटकते हैं मछुआरे गोया मछुआरे को पटकते हैं वे लोग फिर भी वे लोगों के लिए सजवा देते हैं। बड़ी बड़ी थाली में, प्लेट में, मछलियाँ" तो यह उसका शौक नहीं मजबूरी है। यह भी विदित है कि जिस हथियार से मछलियों को पकड़ने का जाल मछुआरे बुनते हैं वही उनके फंसने के माध्यम बनते हैं। जब कवि यह कहता है कि "मछुवारे और मछलियाँ लोहे से डरते हैं। मछलियों और मछुवारे के मालिक कोई नहीं कौन रक्षक भक्षक लाखों में हैं", पाठक अपने लोक-जीवन में प्रवेश कर दैनिक यातनाओं में खो जाता है। एक और स्थिति...यहाँ मछलियों का एक अर्थ हमारे

परिवेश में और भी लिया जाता है वह है "कम उम्र की लड़कियां" और मछुआरे के रूप में उनके ही भाई-बाप जो भूख और जीवन के मध्य कहीं पिस रहे होते हैं। कवि का यह उद्घोष "एक दिन मछलियों का राज होगां और दुनिया के तख्तों पर ताज होगा" उसके यातनामय जीवन में विश्वास की नयी किरण दिखाता है।

कवि दूसरी कविता में वैश्विक प्रभाव का आकलन करता हुआ मजबूर मछलियों का नया पर समकालीन यथार्थ रखता है "तलाबों में बसी हुई मछलियाँ, किसी बड़े कुँए में छलांग लगाना चाहती हैं। नाहर के मुहाने पर मछलियों का खैर नहीं बारिश के पानी में भींगना और भागना चाहती हैं।" हम अपने जीवन में कितने अहिंसात्मक और आदर्श हैं वह इसी सीरीज की कविता में देखने को मिलती है। एक तरफ तो तमाम जीवों को बचाने के लिए तमाम प्रकार के आन्दोलन किये जाते हैं, लेकिन वहीं दूसरी तरफ "मछलियों की चोइटा, खाल, पीत्त, गुदड़ी खेतों में, डाल फेंकते हैं।" मछली सीरीज की कविताएँ निश्चित ही लोक से उठाई गयी संवेदना का प्रतिनिधित्व करती हैं।

"खून लपेटी हुई दुनिया पत्थर की" कविताओं को पढ़ने से कवि की सामाजिक-बोध की यथार्थता को समझने में पाठक-मन को गहराई से उतरना होता है। महानगरीय परिवेश में जीवन-जन किस तरह वीरान और बंजर होता जा रहा है पहली कविता उसकी एक बानगी है जहाँ "पत्थर की लकीरे हैं। पत्थरों से तराशे हुए शहर में, शहर पत्थर की तरह हो रहा है।" यह भी कि ऐसे शहर के निर्माण में हम स्वयं को घेरकर अपनी समाधि की व्यवस्था में लग गये हैं। बंजर और लगभग बाँझ हो चुकी यथार्थता में वह दिन दूर नहीं जब "पत्थरों के शहर में सांस कम होगी पत्थर युगीन शहर में हम नहीं जाएंगे, प्रदूषण युगीन शहर बनाएँगे, धड़कन तेज हो जाएगी। प्रेमिका गले मिलने से पहले ही मारी जाएँगी" भूख की प्रत्याशा में हम कितनी और आगे बढ़ सकते हैं, मानवीय होते हुए भी भूखे व्यक्ति की मानिंद नवीनता की तरफ उन्मुख होंगे यह दूसरी कविता में देखा और परखा जा सकता है। पर्यावरण के यथार्थ परिदृश्य पर कवि अधिक सचेत होकर अपनी बात रखता है। कवि की यथार्थता और उसके कहन की नवीनता हमारे समय एक बड़ी सच्चाई है।

कुमार विजय गुप्त की 'कविताएँ' बदले हुए समय के यथार्थ को समझने में हमारी दृष्टि और दृष्टिकोण दोनों को प्रभावित करती हैं। वैसे तो वर्तमान कविता जगत में यह चेहरा अब किसी परिचय का मुहताज नहीं है, लेकिन फिर

भी इस अंक में प्रकाशित तीन कविताओं "कहाँ हो मेरे देश?", "नाहिद आफरीन उम्र सोलह साल", "कुर्सियां" और "चांडाल चौकड़ी", के बहाने कुछ बात कर लेना आवश्यक है। आवश्यक इसलिए क्योंकि इन दिनों की अधिकांश कवि-कविताओं से गुजरते हुए यह आभास होता रहा है।..वे कविता की शक्ल में कविताई कम पार्टी-प्रचार अधिक कर रहे हैं। इस प्रवृत्ति में जुगाली की भाषा गढ़ने की नीयति अधिक विकसित हुई है बनिस्बत निर्भीकतापूर्वक कहन प्रक्रिया को साकार रूप देने के।

प्रचार की कुछ प्रक्रियाएं तो इतनी घातक हैं कि बहुत से तथाकथित कवि सांप्रदायिक समन्वय की आड़ में साम्प्रदायिकता का जहर घोल रहे हैं। यह जहर तेजी से उठ कर सम्पूर्ण देश को अपने आवरण में समेट रहा है। उनकी वजह से ही सम्पूर्ण परिवेश में गहरा धुंध फैला हुआ है। इन्हीं धुंधले वातावरण के आवरण में वर्तमान रहते हुए कवि यहीं कहीं बावला होकर देख-पुकार रहा है–"कहाँ हो मेरे देश?" "चिंताओं से घिरे हुए आम आदमी की तरह'' वह बौखलाया बेतहासा ढूंढें जा रहा है "नगरों-महानगरों में वहाँ के ऐशो आराम में।. ..मलिन बस्तियों में उनकी दुखती हुई रगों में।...भोर के उजास में।..धुंध-धुंए-धूल में।..घुप्प अँधेरे में।..किसानों की लटकी हुई जीभों में।..स्त्रियों की संज्ञा-शून्य आँखों में।..भूखे बच्चे के कपोलों पर आंसू के सूखे धब्बों में।..नौजवानों के दिल दिमाग में भी" वह ढूंढता फिर रहा है देश को लेकिन वह नहीं दिखाई देता है। वह यह भी अंदेशा जाहिर करता है कि "देशप्रेम और देशद्रोह की सीमा-रेखा के बीच कहीं अदृश्य खड़े तो नहीं तुम भौंचक!" लेकिन यह अंदेशा भी निराधार साबित होती है और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचता है "कि बंटवा डालूँ तुम्हारी गुमशुदगी के पर्चे कि कोई लाकर सौंप दे मुझे मेरा देश.....कि करवा दूं मुनादी। कि लौट आओ चले आओ मेरे पास।" नफरत और प्रेम का समीकरण इतना बिगड़ गया है कि उसका यह उपक्रम मानवीय आशाओं की भाँति ध्वस्त होता प्रतीत होता है।

राजनीतिक झंडेबाजों की जुगाड़ बाजी में आम आदमी किस तरह हतप्रभ और संशक्ति है वह इस कविता के माध्यम से देखा-पढ़ा जा सकता है। कवि-दृष्टि में इस सौहार्द्रपूर्ण पारम्परिक भूमि पर आम आदमी का 'देश' यदि गायब हुआ है तो उसके पीछे "कुर्सियां" पूर्ण रूप से सक्रिय हैं। इस सक्रियता में जन-संवेदनाएं उपेक्षित हुई हैं, कुर्सियां पूजी जाती रही हैं। कुर्सियों के रखवाले समृद्ध हो रहे हैं तो उनको चयनित करने वाले "दिख जाते हैं ठगे से कुछ जुम्मन

शेख...कुछ अलगू चौधरी! कुछ सुलगते सवाल...कुछ ज्वलंत मुद्दे" ऐसे ही लावारिश घूमते चक्कर काटते रहते हैं जैसे किसी वजनदार व्यक्ति बैठने से कुर्सियां चौकोर घूमा करती हैं।

कविता इन दिनों बहुत से कवियों ने की है, लेकिन अवसरवादिता से मुक्त रहकर कविताई की शक्ल में बहुत कम लोगों को देखा गया है। यह सच है कि हमारा परिवेश रूढ़ियों और ढोंगों से भरा पड़ा है–वह चाहे हिन्दू परिवेश हो चाहे मुस्लिम परिवेश हिन्दू परिवेश से कम रूढ़ियाँ मुस्लिम परिवेश में नहीं हैं। कवि-स्वभाव की बात की जाए तो रूढ़ियों को आँख दिखाते हुए प्रगतिशीलता को आमंत्रित करना उनकी जिम्मेदारी और नैतिकता बनती है। पिछले दिनों एक मुस्लिम युवती "नाहिद आफरीन उम्र सोलह साल" के गीत-संगीत गाने को लेकर इस्लाम के झंडेबाजों द्वारा जो हो-हल्ला मचाया गया था, इधर के प्रगतिशील कवियों द्वारा शायद ही कोई कविता निकली हो। कवि मुखर हो कर इस संवेदनशील मुद्दे पर अपनी बात रखता है और यह कहते हुए कि

क्या तुम्हें पता है कि जब तुम गाती हो
तो तुम किसी नाजुक डाली-सी हौले-हौले झूमने लगती हो
जिससे हिलने-डुलने लगती है आस-पास की जमी हुई हवा
यही हवा हम तक आते-आते बन जाती है बवंडर
जिससे सिहर उठती है हमारी सत्ता
डोलने लगता है हमारा सिंहासन हमारा वजूद।

चूंकि तुम खुद समझदार हो, जरा समझो मत गाओ!" निवेदन करता है।

यह निवेदन कवि की लाचारी नहीं है और न ही तो वह युवती को धार्मिक आडम्बर के आवरण में सिमटते देखना ही चाहता है। वह चाहता है कि इस दकियानूसी परंपरा को जनसामान्य के बीच विमर्श का मुद्दा बनाया जाए और किसी की सुरीली मधुर ध्वनि प्राणघातक न होकर किस प्रकार जीवन-प्रेरक हो सकती है,यह बताया जाए। बताने की प्रक्रिया में परिवेश के अन्य कवि-कलाकार-समाज सेवक सहायक हो सकते हैं, लेकिन सबके सब अपनी प्रशंसा में किस तरह डूबे हुए हैं यह कवि की चौथी कविता "चांडाल-चौकड़ी" को पढ़कर अंदाजा लगाया जा सकता है। दरअसल यह मात्र कवि के परिवेश की स्थिति न होकर सम्पूर्ण साहित्यिक परिदृश्य का यथार्थ है जहाँ "चांडाल चौकड़ी" संवाद की समस्त प्रक्रियाओं पर कुंडली मारे बैठे हैं। ये ऐसे घाघ के रूप में चिन्हित किये जा सकते हैं। जो एक साथ

आलोचक-कवि-कथाकार-संयोजक-आयोजक-दर्शक-श्रोता सब कुछ बनने-होने की क्षमता से लैस रहते हैं। कवि के शब्दों में ही कहें तो "वे एक दूसरे की बलैइयां लेते हैं। वे एक दूसरे को बधाइयां देते हैं। साल-दो-साल में भेंट कर प्रशस्ति-पत्र और शाल एक दूसरे को सम्मानित करते हैं।" एक तरह से सम्मानित होने की भूख और प्रशंसा न सुनने की कुंठा में स्वयं को रचते और स्वयं को खर्च करते प्रतीत होते हैं।

यह सच है कि कुछ कवि ऐसे हैं, जो लोक-संवेदना से जुड़कर कार्य कर रहे हैं। राजनीतिक पार्टी की झंडेबाजी रवैये को दरकिनार करते हुए जन-सहभागिता की प्रवृत्ति को केन्द्र में रख कर चल रहे हैं। कुर्सी की पूजा के बजाय जन-संवेदना को आदर्श मानकर सत्ताशीन दलालों से टक्कर ले रहे हैं। इन कविताओं को पढ़ने के बाद आपकी दृष्टि में कुमार बिजय गुप्त उन्हीं कुछ कवियों में से एक हो सकते हैं। सद्यः प्रकाशित इन कविताओं को पढ़ते हुए यह आभास हुए बिना नहीं रहा जाता कि कवि अनुशंसा-प्रशंसा की संस्कृति से दूर बहुत दूर है। इस संस्कृति में संलिप्त लोगों को बेनकाब करते हुए स्वयं को "जो घर उजारे आपना चले हमारे साथ" की पंक्ति में सुरक्षित रखने में कामयाब हो सका है।

स्मृतियां बहुत कुछ कह जाती हैं। स्मृतियों से उपजी यथार्थता ही स्थिरता से लेकर भटकाव तक की स्थिति में पथ-प्रदर्शक बनती हैं। कविता की शक्ल में अनुभव से पगी ये स्मृतियाँ ही मानवीय आकार में हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं और न चाहते हुए भी सार्थक कर्म करने के लिए प्रेरित करती हैं। राजवंती मान की कविता 'प्रिय नीम' की संवेदना से जुड़ते हुए "सूर्यास्त के बाद" तक "झोला" के स्थायित्व में अटकी स्मृतियाँ ही हैं, जो कवयित्री को भावुकता के रास्ते से मानवीय व्यवहार की पराकाष्ठ तक यात्रा करने के लिए विवश करती हैं।

"पराकाष्ठा" की बात इसलिए क्योंकि मनुष्य कभी भी नहीं चाहता कि उसकी जीवन-यात्रा में शामिल कोई भी वस्तु या चीज उसके जाने से पहले ही विनष्ट हो जाए। कहीं गहरे यथार्थ में यही मानवीय संस्कृति है। यही परंपरा है, जिसे मनुष्य वर्षों क्या सदियों संजोकर रखना चाहता है। यही स्मृतियाँ अपने स्वाभाविक रूप में मूल सन्देश के साथ पीढ़ी-दर-पीढ़ी तक हस्तांतरित होते रहती हैं। 'झोला' कविता की इस बानगी के साथ स्मृतियों के यथार्थ को परखा जा सकता है-यथा-"दरवाजे के पीछे खूँटी पर। ये झोला टका है उस वक्त से

जब दिल ने पहली चोट खाई थी। और सी कर रख छोड़ी थी इसमें इस दरवाजे से जो आया और गया। जिसने जो कहा सुना। ये मुंशी है सबका बराबर हिसाब रखता है। मैं रोज देखती हूँ इसको मगर उतारती नहीं बस, उतारती नहीं। कि खुद ही गिर जाएगा। एक दिन। टूटकर, बिखरकर, गलकर खामोश।"

राजवंती मान के पास अनुभव का बड़ा कैनवास है, जिसे वे शब्दों से रंगने में कोई कसर नहीं छोड़तीं। अपनी (कविता) "काला पानी से सैल्यूलर जेल तक" की यात्रा में शब्द यथार्थ बनकर टीसते हैं। रंग संघर्ष बन कर मांजते हैं। हमारी चेतना और सोए हुए दायित्वबोध को झकझोरते हैं। यह उसी झकझोर का परिणाम है कि "दहाड़ मार कर रोया सागर मूक न रह सके वो पत्थर दुनिया के नियामक कहलाने वालों को खत्म करनी पड़ी सजाएं कालेपानी की।" अंग्रेजों के समय की इस भयानक त्रोसदी को दिखाते हुए कवयित्री की कवि-दृष्टि तैयार करती हैं, जैसे इसलिए कि रोजी-रोटी तक का रोना ही समय के प्रति जागरुक होना नहीं है। देश-समाज के प्रति दायित्वबोध की स्वीकारोक्ति भी आवश्यक है ताकि काला पानी का अतीत हमारा भविष्य न बन पाए। राजवंती मान की कविता-कहने में यथार्थ अभिव्यक्ति के साथ-साथ सौन्दर्यानुभूति की खनक भी दिखाई देती है। इस रास्ते कविताई सुगठित होती है और सपाटब्यानी का खतरा दूर होता जाता है।

7

हिंदी कविता का समकालीन परिदृश्य

'श्वे रचती हैं!
वे रचती हैं तभी हम-आप होते हैं
तभी दुनिया होती है
रचने का साहस पुरुष में नहीं होता
वे होती हैं तभी पुरुष
पुरुष होते हैं।''
(अनभै कथा, पृ. 35)
''मन में गहरी बेचैनी है
इधर बदल गए हैं हमारे शहर
वहाँ अदृश्य हो रहे हैं आत्मा के वृक्ष
अब कोई आँधी नहीं आती
जो उड़ा दे भ्रम की चादर।''
(असुंदर सुंदर, पृ. 18-19)
''आदमी को नकारकर
औरतों को लुटवाकर
गोलियाँ बरसा कर

नहीं बचाया जा सकता देश
देश को बचाने के लिए प्यार चाहिए''
(इन दिनों हालचाल, पृ. 59)
"तुम्हारा कहीं भी होना
मेरे साथ होना है
मेरा कहीं भी होना
तुम्हारे साथ होना है।
तुम कहीं भी जाओ
कितनी भी बचकर जाओ
चुटकी भर चला ही जाऊँगा तुम्हारे साथ।''
(बिल्कुल तुम्हारी तरह, पृ. 14)

''मित्रों, संसार में विज्ञान ही विज्ञान है पर जीवन का विज्ञान-विज्ञान की प्रचलित और प्रचारित अवधारणाओं के पार कर जाता है जहाँ अनुभव धूप में अपनी देह सुखाता है।'' (कायांतरण, पृ. 119)

समकालीन कविता की युवा पीढ़ी का अति परिचित और चर्चित नाम है, जितेंद्र श्रीवास्तव। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में जितेंद्र की कविताएँ प्रकाशित होती आ रही हैं। सिर्फ प्रकाशित होकर अलक्षित नहीं रह जाती हैं बल्कि पढ़ी जाती हैं, चर्चित होती है और प्रशंसित भी। जितेंद्र की पहली कविता पुस्तिका 'इन दिनों हालचाल' 1999 में प्रकाशित हुई थी। दिनेश श्रीनेत ने अपने चयन और संपादन से 'इन दिनों हालचाल' को 2011 में पुस्तकाकार रूप प्रदान किया है। दो दशकों से भी अधिक अवधि से जितेंद्र काव्य-सृजनरत हैं। अब तक उनके पाँच कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं - अनभै कथा (2003), असुंदर-सुंदर (2008), इन दिनों हालचाल (2011), बिल्कुल तुम्हारी तरह (2011) और कायांतरण (2012)। इन पाँचों संग्रहों की कविताओं ने हिंदी के पाठकों, विद्वानों, आलोचकों और सहृदयों का ध्यानाकर्षण किया है। हिंदी अकादमी दिल्ली का 'कृति सम्मान', उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 'रामचंद्र शुक्ल पुरस्कार', 'भारत भूषण अग्रवाल पुरस्कार', उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 'विजयदेव नारायण साही पुरस्कार', भारतीय भाषा परिषद्, कोलकाता का 'युवा पुरस्कार', 'डॉ. राम विलास शर्मा आलोचना सम्मान', 'परंपरा ऋतुराज सम्मान', 'देवीशंकर अवस्थी पुरस्कार' आदि से सम्मानित कवि जितेंद्र एक आलोचक भी हैं। आलोचना के क्षेत्र में भी पुरस्कृत हो चुके हैं, जो उपर्युक्त सूची से प्रमाणित होता है। परंतु यहाँ

केवल जितेंद्र श्रीवास्तव के कवि-कर्म के कुछ बिंदुओं पर चर्चा की जा रही है, लेकिन, यह बताना जरूरी है कि जितेंद्र ने गाँव, शहर, कस्बा, महानगर में रहकर वहाँ के जन-जीवन से जुड़कर, जो अनुभव प्राप्त किया है उसे अपने अंदर पकने दिया, मँजने दिया तत्पश्चात् कविता लिखी है। जाहिर है कि जितेंद्र का अनुभव-संसार व्यापक है, अतः उनकी रचना की दुनिया भी वैविध्यमयी है। जीवन के विविध संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों, उसकी जटिलताओं और विडंबनाओं, सुख और दुख की स्थितियों, अँधेरे और उजले चित्रों आदि को रचनाकार ने कविता का विषय बनाया है। फलस्वरूप, जितेंद्र की कविताएँ वायवीय नहीं लगती हैं बल्कि विश्वसनीय प्रतीत होती हैं। पाठक को लगता है कि उसके अनुभवों को कवि ने शब्दबद्ध किया है। वह कविता से जुड़ता चला जाता है। तादात्म्य स्थापित होता है। इस तादात्म्यता में जितेंद्र के निष्कपट और सहज भाव-रूप की बड़ी भूमिका होती है। अपनी पीढ़ी के रचनाकारों की तुलना में जितेंद्र की विशिष्ट पहचान इसलिए है कि वे शब्दाडंबरों से अपने पाठकों को गुमराह करने में विश्वास नहीं करते। कविता की संवेदना को संप्रेषित करने के लिए जटिल शब्दावली का सहारा नहीं लेते। जल्द से जल्द पाठकों तक पहुँचते हैं। ऊपर से देखने पर ये शब्द सीधे और सहज प्रतीत होते हैं पर चिंतन-मनन के बाद इनमें निहित अर्थ-गांभीर्य प्रकट होता है। यूँ कहा जा सकता है कि साधारण का असाधारण भावबोध से युक्त होकर इनकी कविताओं ने समकालीन कविता में अलग पहचान बनाई है, जितेंद्र की कविताओं में निहित शक्ति और सामर्थ्य ने उन्हें अपनी जगह दिलाई है जो कवि के जीवनानुभवों से उत्पन्न हैं।

जितेंद्र श्रीवास्तव की कविताएँ 1991 में महत्त्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं। सराही भी जाती हैं। यह समय भारतीय संदर्भ में काफी महत्त्व रखता है। भारत ही क्यों पूरी दुनिया इसी दौर में बड़े उथल-पुथल से गुजरती है। यह उथल-पुथल आज भी जारी है। सोवियत संघ का विघटन हुआ। विश्व पूँजीवाद ने अपना विजय ध्वज फहराना शुरू कर दिया। वर्ल्ड बैंक और आई. एम.एफ. का वर्चस्व सामने आया। आर्थिक विकास का ढोंग रचा गया। भूमंडलीकरण के नाम पर मुक्त बाजार व्यवस्था प्रचलित हो गई। इससे उपभोक्तावाद को बढ़ावा मिला। विकास के नाम पर मॉल और 'बिग बाजार' खड़े किए गए। कंक्रीट का जंगल फलने-फूलने लगा। जल, जंगल और जमीन पर कब्जा करने लगीं बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ। राष्ट्रीयता और संप्रभुता पर भी खतरे मँडराने लगे। पूँजी अति शक्तिशाली हो गई और आर्थिक ताकतें अधिक ताकतवर

हो गई। आम आदमी का संकट गहराने लगा। विकसित राष्ट्रों ने भारतीय राजनीति को भी परोक्ष ढंग से नियंत्रित करना शुरू कर दिया। राजनीति ने सदा ही भारतीय जनता को लूटा है, छला है और शोषित किया है। भूमंडलीकरण की आँधी के बाद दुनिया को दो हिस्सों में बाँट दिया गया। एक ओर भूमंडलीकृत हिस्सा तो दूसरी ओर इस प्रक्रिया से बाहर रह गया हिस्सा। पहले हिस्से में सट्टेबाजियाँ, भ्रष्टाचार, अपराधीकरण आदि को फलने-फूलने दिया गया ताकि कॉर्पोरेट पूँजी का उत्तरोत्तर विकास हो। दूसरी ओर, क्रय-शक्ति के अभाव में रहने वाली बहुसंख्यक आम जनता को पूँजी ने निरर्थक साबित किया है। 'वैश्विक गाँव' में केवल वे शामिल है, जिनमें क्रय-शक्ति मौजूद है। पूँजी ने मीडिया को अपना दास बना लिया तो मीडिया दास ने भूमंडलीकरण और पूँजी की महिमामंडित करने का बीड़ा उठा लिया।

भूमंडलीकरण के दौर में बाजार का महत्त्व बढ़ता गया। पूरी दुनिया को मंडी में तब्दील करने का सपना लेकर भूमंडलीकरण सामने आया। यानी भूमंडलीकृत देश भूमंडीकृत बन गए। मुक्त बाजार, मंडी तंत्र आदि का एक सीधा अर्थ होता है 'अमेरिकी दादागिरी'। हथियारों की खरीद-फरोख्त हो अथवा देशी वस्तुओं की पेटेंट व्यवस्था हो, सीमा-संघर्ष हो या क्षेत्रीय युद्ध, गृह युद्ध हो या कोई परियोजना सर्वत्र अमेरिकी वर्चस्व बहुराष्ट्रीय कंपनियों के बहाने सामने आने लगा।

भूमंडलीकरण के नाम पर अपने उदात्त सांस्कृतिक वैविध्य को समाप्त करने की भी साजिश रची जाने लगी। एक ही तरह के खान-पान, वेश-भूषा, भाषा, जीवन-पद्धति आदि को प्रोमोट करते हुए भूमंडलीकरण ने 'भारतीयता' को उखाड़ फेंकने का भी षड्यंत्र रचा है। फलस्वरूप, हमारी जीवन-शैली गहरे रूप से प्रभावित हो रही है। व्यर्थ ही चमक-दमक के सामने हमारे पुराने सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्य बाधित हो रहे हैं। एक नई संस्कृति पनप रही है उपभोक्ता संस्कृति, इसमें सब कुछ खरीदा-बेचा जा सकता है। मनुष्य भी एक प्रॉडक्ट मात्र है। मानवता खतरे में है। मानवता का कोई बाजार मूल्य नहीं होता है तो उपभोक्ता संस्कृति को उसकी रक्षा की कोई चिंता नहीं है। भूमंडलीकरण सर्वग्रासी दैत्याकार रूप धारण कर चुका है। ऐसी परिस्थितियों में युवा-कवि जितेंद्र का कविता के क्षेत्र में आगमन होता है। स्वाभाविक है कि अपने समय की चिंता और समय की विकृतियों को जितेंद्र कहाँ तक उकेरते हैं, उसकी परख होनी चाहिए। यह भी परखा जाना चाहिए कि यह युवा कवि भूमंडलीकरण के

सच को किस रूप में ग्रहण करता है? क्या उसका विरोध करता है या समर्थन? यदि विरोध है तो किन औजारों से किस रूप में संघर्ष करता है? अपने समय के अंतर्द्वन्द्व और दरारों को कितनी मजबूती के साथ पकड़ता है? साथ ही यह भी देखा जाना चाहिए कि उसकी रचनाएँ आने वाले समय के लिए कितना उपयोगी साबित हो सकती हैं।

पूँजी की विकरालता सर्वत्र फलीभूत हो रही है। राष्ट्रीय सरहदों को पारकर दुनिया के कोने-कोने में पूँजी के दुष्प्रभाव दिखाई पड़ रहे हैं। पूँजी अपना खेल खेलने के लिए तमाम सीमाओं, मर्यादाओं को तोड़ रही है। भूमंडलीकरण के पैरोकारों की दृष्टि में राष्ट्रीयता, अपनी भाषा-संस्कृति आदि विकास के बाधक हैं। पूँजी की तानाशाही पर अपनी चिंता जाहिर करते हुए जितेंद्र लिखते हैं -

''पूँजी की रेल-पेल
धक्का-मुक्की में पलकर
जवान होता है जब लड़का
वह आलू को आलू
और टमाटर को टमाटर की तरह
चखना चाहता है।''
(अनभै कथा, पृ. 94)

दरअसल, यहाँ जवान हो रही पीढ़ी का विद्रोह है, जो अपने समय की सच्चाई को जानना-समझना चाहती है। भटकना या भरमाना नहीं चाहती। पूँजी की चालाकियों के सामने अपने को तिरोहित भी नहीं करना चाहती है। पूँजी अपने मुनाफे के लिए जो लाभ का जाल बुनती है उसका शिकार बनना स्वीकार नहीं करती है, जितेंद्र का कवि पूँजी के छल-कपट से परिचित है। इसलिए वह उसकी कपट-लीला को अनावृत करता है। पूँजी के खेल से चीजों का प्राकृतिक गुण-धर्म विनष्ट हो रहा है। इससे भी चिंता की बात है कि जीवन की स्वाभाविकता समाप्त होती जा रही है। गाँवों में 'गाँव' बचा नहीं रहा। न वहाँ चहल-पहल बची है और न बच्चों की किलकारियाँ। पूँजीवादी लोलुप सत्ता ने ऐसा चक्रव्यूह रचा है कि अर्थ के आकर्षण के चलते 'कच्ची उम्र के छोकरे' नगरों-महानगरों में बँध गए हैं। मासूमियत, सहजता, स्वाभाविकता को बचाए रखने की बड़ी जिद है कवि जितेंद्र की। साथ ही, इनके हंताओं की जमकर खबर लेना भी नहीं भूलते हैं वे। भूमंडलीकरण, बाजार, पूँजी, उदारीकरण, निजीकरण की साँठ-गाँठ से कवि परिचित है। कैसा प्रतिकूल समय आ पहुँचा-

''देखते ही देखते
गाँव से छोकरे गए
मन से हुलास
इमली से खटास गई
आम से मिठास
महुए से रस गया
आँखों से नींद।''
(यथोपरि, पृ. 110)

आज के दौर में बाजार ने अपनी स्थानीयता खोकर वैश्विक रूप ग्रहण कर लिया है। 'ग्लोबल मार्केट' की वस्तुएँ सर्वत्र पहुँच रही हैं। वहाँ भी जा पहुँची हैं जहाँ बिजली, सड़क, शिक्षा से भी लोग वंचित हैं। बाजारवादी अर्थव्यवस्था में केवल एक ही मूल्य होता है, वस्तु का मूल्य। वस्तु की कीमत सर्वोपरि हो जाती है। यह अलग बात है कि बाजारवाद ने मनुष्य को, मानवीय संवेदनाताओं तक की वस्तु के मोल पर बेचना चाहा है। ऐसा भी देखा जाता है कि मनुष्य किसी वस्तु की तुलना में ठिगना और बौना साबित हो जाता है। बाजार के सामने मनुष्य अपने घुटने टेक देता है। संचालन का सूत्र बाजार और पूँजी के हाथों सौंप देता है। नियंत्रण की डोर उन्हें पकड़ा देता है। उससे दो-चार नहीं हो पाता। यह अत्यंत चिंता का विषय है। बाजारवादी अर्थ-व्यवस्था में बाजार तो चाहेगा कि विचार का अंत हो जाए। परंतु कवि प्राण ऐसी स्थिति में व्यथित हो उठता है। दुनिया चाहे रचनाकार की हो या कलाकार की वह बाजार से मुक्त कहाँ हो पाता है? वरिष्ठ कवि केदारनाथ सिंह के दाने निश्चय कर लेते हैं "अब हम मंडी नहीं जाएँगे''। यह है कवि का प्रतिरोध और विद्रोह। केदार जी स्पष्ट कहते हैं - "यह बाजारों का समय है।' बिल्कुल बदला हुआ समय है, जितेंद्र इस बदलते समय के बदलते मिजाज को शब्द-चित्र में कैद करते हैं अपनी अपेक्षातया लंबी कविता 'रूमाल की तरह' में। 1998 से 2005 तक आते-आते कितना कुछ बदल जाता है कितनी तेजी के साथ -

''रिश्तों के बीच आ गया है पैसा
जैसे खाने में दाँतों के नीचे कोई कंकड़''
(असुंदर सुंदर, पृ. 121)

इसी कविता में ही कवि भूमंडलीकृत समय और समाज की दशा-दिशा से बेचैन दिखाई पड़ता है -

''पर यह समय शापित है
इन दिनों
बाजार के इतने चेहरे दिखते हैं एक साथ
कि मिथकों में साँस ले रहे सारे मायावी चरित्र
मिलकर भी नहीं बना सकते उतने चेहरे''
(यथोपरि)

यहाँ भूमंडलीकरण और बाजारवादी व्यवस्था पर कवि की चिंता जाहिर होती है। बाजारीकरण के दौर में कुरुचि और विकृति को सुंदर घोषित कर उसका विक्रय हो रहा है। वास्तव में यहाँ जो बाजार मौजूद है वह केवल क्रेता और विक्रेता का स्थान भर नहीं है। यह एक अखाड़ा भी है। इस अखाड़े में पश्चिम का पहलवान, दैत्य पटकता रहता है। हम उसके जाल में फँसते चले जाते हैं। मानवीय संबंध अत्यंत प्रभावित होता है। इस बाजार में सब कुछ बिकता है। सुख-दुख, प्रेम-हिंसा, क्रूरता आदि भी बेचकर मार्केट से लाभ हासिल किया जा रहा है। इसने हमारा सौंदर्यबोध भी बदल दिया है। हमारी स्वाभाविकता तक को छीन लिया है। कवि उसके 'चेहरे' की कारगुजारियों का उन्मीलन करता है। अपने समय और समाज में व्याप्त भूमंडलीकरण की कुरीतियों को उघाड़कर रख देता है, शापित समय' लील लेना चाहता है हमारी इच्छाओं और अभीप्साओं को। वह अपने उदर में समा लेना चाहता है हमारे अपनेपन और आत्मीय संबंधों को। हस्तगत कर लेना चाहता है, वह हमारे निजी क्षणों को भी। जितेंद्र के शब्दों में-

''उसके मुँह से चू रही है लार
वह बढ़ रहा है
हमारी इच्छाओं की डोर थामे
अब वह लपकना चाहेगा हमारी आत्माओं को
जिनका इस्तेमाल करना चाहता है वह
रूमाल की तरह।''
(यथोपरि, पृ. 122)

मनुष्य बेतहाशा अंधी दौड़ में शामिल हो रहा है। मनुष्य व्यक्ति में तब्दील हो रहा है और समाज भीड़ में। संबंधों की ऊष्मा अनजान-बेपहचान में बदल रही है। पूँजी को सर्वोपरि मान लिया जाता है। पैसा बोलता है। भूमंडलीकरण के दौर

में जीवन के सारे अर्थ बदल चुके हैं। मुहावरे बदल रहे हैं। आस्था और विश्वास, प्रेम और सहानुभूति जैसे मानवीय गुणों की होली जलाई जा रही है –

''अब कस्बों में बहुत दिनों तक
चल नहीं पाता काम
विश्वास और भरोसे पर
अब वहाँ अपना अर्थ बदल रहे हैं मुहावरे
समा रहे हैं तेजी से बाजार के पेट में''
(यथोपरि, पृ.67)

नब्बे के दशक में उन्मुक्त पूँजीवाद एवं उदारीकरण ने उपभोक्ता संस्कृति को भरपूर खाद दी। हम सभी आज उपभोक्ता बनकर रह गए हैं। उपभोक्तावादी सांस्कृतिक भूमंडलीकरण, बुर्जुआ संस्कृति की पराकाष्ठा के साथ प्रारंभ हुआ। जीवन के ऐश-ओ-आराम की सारी चीजों और भौतिक सुखों को ही सर्वोपरि स्थान दिया गया। उपभोक्तावाद का पालन-पोषण मीडिया, विज्ञापन के जरिए होने लगा। आज के समाज में विज्ञापन संस्कृति एक 'अति अनुकरणीय' (हाईपर सिमुलेटेड) संस्कृति है, जो किसी भी समूह के नियंत्रण से परे है। खाओ-पीओ और मौज उड़ाओ की हिमायत करती है यह उपभोक्तावादी संस्कृति। मर्यादा और सामाजिक विधि-निषेध की परवाह भला इसे कहाँ है? उपभोक्ता संस्कृति एक असाध्य महामारी के रूप में फैलती जा रही है। जीवन मूल्यों को धत्ता बताते हुए यह खूब फल-फूल रही है। बाजार निरंतर अपने नए उपनिवेश बनाने की फिराक में रहता है। यह सब पर अपना शिकंजा कसता जा रहा है। कमल नयन काबरा लिखते हैं – "भारत का धनी-मानी, शहरी तबका पूरी तरह उपभोक्तावाद की चपेट में है और पश्चिम के उपभोग स्तर तथा जीवन प्रणाली की हू-ब-हू नकल करना उनके लिए उपलब्धि के नए मानदंड बन गए हैं।'' (काबरा, कमल नयन – भूमंडलीकरण के भँवर में भारत, पृ. 114) आज यह निम्न वर्ग में फैलने लगी है। उपभोक्तावादी मानसिकता तेजी से विकसित हो रही है। कमल नयन काबरा इसका पूरा प्रसार शहरी तबके तक सीमित मानते हैं परंतु कवि जितेंद्र इसकी व्याप्ति निम्नवर्ग तक के लोगों में देखते हैं। उपभोक्ता संस्कृति द्वारा फैलाई जा रही अपसंस्कृति का 'रमिया' के माध्यम से विरोध करते हैं। विज्ञापन के मायाजाल में फँसी आम जनता की स्थिति से रू-ब-रू कराते हैं। बहुराष्ट्रीय कंपनियों तथा पश्चिमी देशों की सौंदर्य सामग्री के दिन-दूना रात-चौगुना बाजार की कपट-लीला का पर्दाफाश करते हैं –

''रमिया टी.वी. पर अधनंगी लड़कियों को देखकर
कोसती है शहर की संस्कृति को
समझती है लड़कियाँ खुद नंगी हो गई हैं
शहर को जहर मानती है रमिया
रमिया पर्दे पर जो देखती है
उसे ही सच मान लेती है
जिंदगी में आँच सहकर भी
पर्दे के पीछे नहीं जाती रमिया।''

(जितेंद्र श्रीवास्तव, इन दिनों हालचाल, पृ. 46-47)

भूमंडलीकरण आज का सच है, लेकिन, सवाल यह है कि क्या हम भूमंडलीकरण के भँवर में निःशब्द फँसते जाएँ? यह चुपके से हमारा सब कुछ हमसे छीन ले और हम चुप्पी साधे रहें? क्या हम जुबान तक न खोलें? यह मानकर बैठ जाएँ कि निहत्था होकर दैत्य से लड़ा नहीं जा सकता? कवि का प्रतिरोध है। वह निहत्था भी नहीं है। वह भूमंडलीकरण, उपभोक्ता संस्कृति की गलत नीतियों से जूझना चाहता है। उसके पास अपनी भाषा, संस्कृति अपने लोक आदि की विरासत है। और भी है अपने प्रेम पर सघन आस्था। इन्हीं औजारों के सहारे वह संघर्षरत होना चाहता है, जिन्हें भूमंडलीकरण उससे छीन लेने की तमाम साजिशें रचता आ रहा है। कवि कहता है -

''फिर भी हम
अपनी भाषा में चिल्लाएँगे
दर्द के विरुद्ध
विद्रोह के स्वर में हमारे टूटे-फूटे शब्द
तुम्हारी संस्कृति से टकराएँगे।''

(यथोपरि, पृ. 31)

भूमंडलीकरण के संदर्भ में जितेंद्र की कविताओं का विश्लेषण हो और उनकी लंबी कविता 'तेरह वर्ष बाद एक दिन जे.ए.यू. में फिर' की चर्चा न हो तो बात पूरी नहीं होगी, 'पाखी' के अगस्त, 2011 अंक में यह कविता पहली बार प्रकाशित हुई थी। बाद में जितेंद्र के पाँचवें कविता-संग्रह 'कायांतरण' में इसे संकलित किया गया है। एक उम्दा कविता है यह। सहजता के साथ जो कुछ भी रचा गया है उसके संदर्भ और परिप्रेक्ष्य उतने सहज प्रतीत नहीं होते हैं। दरअसल, यही जितेंद्र की सबसे बड़ी खूबी है कि साधारण को असाधारण बना

देते हैं। मीडिया विशेषज्ञ दिनेश श्रीनेत लिखते भी हैं – ''जितेंद्र अपनी कविता में वह संभव करते हैं, जिनके बारे में बहुत से कवि सिर्फ सोचते रह जाते हैं।'' (यथोपरि, फ्लैप से) कवि का नजरिया जे.एन.यू. में विकसित होता है। गोरखपुर में उसका बीजवपन हो चुका था।

जे.एन.यू. सिर्फ एक विवविद्यालय नहीं है। यह तमाम बुद्धिजीवियों, चिंतकों, साहित्यकारों, चित्रकारों आदि के लिए आकर्षण का केंद्र रहा है। इसका अपना वैभव है, ऐतिहासिकता है और परंपरा भी। कवि जितेंद्र का इस संस्थान के साथ लंबा अनुभव रहा है। उनकी स्मृतियाँ हैं और हैं संलग्नत। यह कविता जे.एन.यू. केंद्रित जरूर है परंतु जे.एन.यू. के परिसर तक सीमित नहीं है। जे.एन.यू. बस एक नाम है। किसी भी विवविद्यालय के लिए इसकी व्याप्ति हो सकती है। इसलिए इस कविता का फलक बड़ा है। इसका व्यापक संदर्भ है। इसके विविध परिप्रेक्ष्य मौजूद हैं।

आज शिक्षण-संस्थाएँ अपनी गरिमा खोती जा रही हैं। उनका मान या स्तर अधोगामी हो रहा है। अंक खूब प्रदान किए जा रहे हैं परंतु गुणवत्ता में कमी आ रही है। इस कविता में यह चिंता भी मौजूद है। दरअसल, कवि इस स्थिति से आहत होता है और अपनी पीड़ा को बड़ी शिद्दत के साथ पेश करता है।

तेरह वर्ष पश्चात् जे.एन.यू. में पहुँचकर कवि वहाँ की प्रकृति, मिट्टी से निकलने वाली सोंधी गंध और उन्मुक्त नृत्यरत मोर की स्मृति में डूब जाता है। अतीत की यह स्मृति सुखद भी, मनोरम भी। वर्तमान वैसा नहीं है। यहाँ केवल स्मृति नहीं है। स्मृति ही कविता नहीं बनती। कविता के प्रारंभ में ही इस स्मृति से कवि की पर्यावरण चिंता प्रकट होती है –

''प्रकृति ही प्रकृति थी चारों ओर
बारिश में उठती थी
मिट्टी से सोंधी गंध
नृत्य करते थे मोर उन्मुक्त।''
(कायांतरण, पृ. 102-103)

'मोर उन्मुक्त' के माध्यम से कवि अपने विश्वविद्यालय के उन्मुक्त जीवन की ओर भी इशारा कर रहा है। यहाँ न संकीर्णता थी, न भेदभाव की दीवार खड़ी थी और न ही किसी प्रकार का कोई बंधन था। कवींद्र रवींद्र ने इस संदर्भ में कहा था – 'श्वेर दी माइंड इज विदाउट फियर एंड द हेड हाई।'' ऐसी स्थिति में जे.एन.यू. में होने का आशय था 'सपनों के नगर में होना।' प्रसंगतया उल्लेख

किया जा सकता है कि इस लंबी कविता के प्रारंभ, मध्य और अंत में सपनों का जिक्र है। इससे कविता की क्रमबद्धता और तारतम्यता बनी रहती है। क्रम टूटता नहीं। इस कविता में भी क्रमबद्धता का कलात्मक निर्वहन है। पंजाबी कवि पाश ने कहा था – ''सबसे खतरनाक होता है सपनों का मर जाना।" सपना महज कल्पना नहीं होता है। यह जीवन को अर्थवत्ता प्रदान करने वाला साधन भी होता है। पूरे देश के चुनिंदे नौजवान छात्रों के तमाम सपने विश्वविद्यालय के प्रांगण में पलते-बढ़ते हैं। इन सपनों के संबंध व्यक्तिगत जीवन तक सीमित नहीं होते, राष्ट्र तक भी नहीं। ये सपने पूरे वैश्विक परिप्रेक्ष्य में संदर्भित होते हैं। युवा-वर्ग के उन तमाम सपनों की ओर भी कविता संकेत करती है। इसलिए कवि की दृष्टि में जे.एन.यू. सपनों का पर्याय था। विचार चाहे वामपंथी हो या दक्षिणपंथी। शर्त बस इतनी कि वह –

''अग्रगामी बनाने वाले
सपने पैदा करने वाले
और उनको परिणति तक पहुँचाने वाले हों।''
(यथोपरि, पृ. 105)

सपनों को सार्थक बनाने वाले किसी भी विचार का सम्मान था कवि के जे.एन.यू. प्रवास काल में। ऐसा होना स्वस्थ वातावरण का प्रतीक था। कवि ने स्वीकार भी किया है- 'मैंने पाई थी सपने देखने की तमीज।''

कविता का काल है 1994 अर्थात् बीसवीं शताब्दी का अंतिम दशक। यह व्यापक परिवर्तन का दौर था। 1990 को एक तरह का प्रस्थान बिंदु माना जा सकता है। इस दौरान कविता में परिवर्तन दृश्यमान होते हैं। हिंदी कविता भी तमाम उथल-पुथल से गुजरती है। सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक परिप्रेक्ष्य तेजी के साथ बदलने लगते हैं।

भूमंडलीकरण की आँधी ने मानव-मूल्यों को तहस-नहस करना शुरू कर दिया। सांप्रदायिक ताकत नए सिरे से सिर उठाने लगी। मंदिर-मस्जिद का विवाद गहराने लगा। नरसंहार हुआ। आर्थिक साम्राज्यवाद अपना वर्चस्व कायम करने लगा। इस पृष्ठभूमि में आलोच्य कविता रचित है। खुशी की बात है कि जितेंद्र की इस कविता में राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाएँ, परिघटनाएँ चिंता बनकर उभरती हैं। इसमें विशेष कालखंड का चित्रण हुआ है। पिछली शताब्दी के अंतिम दोनों दशक कविता में झाँकतें नजर आते हैं। वास्तव में जिस कविता में कालखंड को अनदेखा किया गया हो, वह कविता टिकाऊ नहीं होती। देश-दुनिया की

समस्याओं से जे.एन.यू. पीड़ित था। बुद्धिजीवी वर्ग चिंतित था, अत: कवि ने भी अपनी चिंता जाहिर की है, प्रतिबद्धता दिखाई है और परिघटनाओं के दुष्परिणामों की खबर ली है। मसलन-

''उस टूटन का दुख घुला हुआ था।''

(यथोपरि, पृ. 103)

''भारत लुढ़कने लगा था
मुक्त बाजार की खाई की ओर।''

(यथोपरि, पृ. 103)

इस संदर्भ में कवि ने 'अयोध्या कांड का अँधेरा' और 'मंडल कमीशन की गूँज' का भी उल्लेख किया है। साथ ही, नेपाल का बदलता परिदृश्य है। पेरू की तस्वीर भी। चेग्वेरा की पुत्री के आगमन के बिंब हों या फिर 'कौन बनेगा छत्रपति' का पूरी कविता में कवि ने बहुत ही कम शब्दों में बहुत कुछ कहने की कला हासिल की है। यह है कवि की सामर्थ्य। दृष्टव्य है -

''जब चारों तरफ होता है 'याम रंग
तब भी कहीं-कहीं चमकता है सफेद बिजली की तरह।''

(यथोपरि, पृ. 104)

परिवर्तन अवश्यंभावी है। उस परिवर्तन का स्थान इतिहास में होता है, जो मनुष्य के हित के लिए हो। सामाजिक प्रगति का सूचक हो। भूमंडलीकरण के दौर में सब कुछ बदल रहा था। जे.एन.यू. का भी बदलना स्वाभाविक था। परंतु वैचारिक सघनता के चलते पूँजीवादी शक्तियों को आँखें मूँदकर स्वीकार नहीं किया जे.एन.यू. ने। उसका विरोध किया, प्रतिरोध किया। इसमें उसे विजय मिली या पराजय, महत्त्व इसका नहीं था। इस बात का अधिक महत्त्व है कि उनका विरोध किया गया। श्रीकांत वर्मा ने जो कभी कहा था 'श्मगध में विचारों की कमी है'', कम-से-कम तेरह वर्ष पूर्व जे.एन.यू. की वैसी स्थिति न थी। यह हमें आश्वस्त करती है।

कविता के मध्य भाग में जे.एन.यू. कल्चर की खूबियों की चर्चा है। काश ये खूबियाँ अन्य शिक्षण संस्थानों की होतीं... ''सिर्फ नौकरी पाने की पाठशाला न था जे.एन.यू.'', दूसरे को तवज्जो देना, अन्य के महत्त्व को स्वीकारना, शिक्षकों का छात्रों के प्रति स्नेह आदि स्वस्थ वातावरण के सूचक हैं। ऐसे वातावरण में ही सुनहरे सपने देखे जा सकते थे। तभी तो इमरान, रजी, अहमद, इकबाल जैसे मित्रों की स्मृति बार-बार आती है। यहाँ भी सांप्रदायिक वैमनस्य की विष ज्वाला

को पराजित करती है कवि की मित्रता। सांप्रदायिक सौहार्द्र की कामना बलवती दिखती है।

उपभोक्तावादी सभ्यता और अवसरवाद के दौर में युवा नेता समझौतावाद की ओर उन्मुख हो रहे हैं। जितेंद्र इस स्थिति में चंद्रशेखर सरीखे छात्र-युवा नेताओं का स्मरण करते हैं। ऐसे नेताओं का आज न तो ओज बचा रहा और न तेज। तभी वे लिखते हैं-

''यह हमारे समय की विडंबना है
कि हमारे बीच तेजी से कम हो रहे हैं
चंद्रशेखर जैसे ओजस्वी, तेजस्वी और निष्कवच लोग।''
(यथोपरि, पृ. 108)

सूचनाओं का आदान-प्रदान भर हो जाए तो छात्र का सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता है। उन्हें 'इन्वाल्व' होना पड़ता है। साहित्यिक आयोजनों में शामिल होना, सांस्कृतिक गतिविधियों का आयोजन करना आदि उन्हें बहुत कुछ सिखाते हैं। कवि ने परोक्ष ढंग से यह स्वीकार किया है कि कविता की बात उसकी परंपरा से जुड़कर समझी जाती है, उससे कटकर नहीं।

इस कविता में अतीत साकार हो उठा है वर्तमान में। 'झेलम लॉन' में रात भर अध्यक्षीय उम्मीदवारों के गर्मागर्म भाषण, उनकी बहसें-मुवाहिसें, पक्ष-प्रतिपक्ष के विचार आदि जीवित हो उठते हैं - ''अभी वहाँ पुरानी बहसों की आँच बाकी थी।''

उक्त कविता में जितेंद्र का संवेदना-जगत जीवन मूल्यों से संबंधित है। टूटते जीवन मूल्यों के बाधक तत्त्वों को कवि ने पहचाना है, उनसे सावधान किया है। एक विशिष्टता और है इस कविता की, इसमें निराशा नहीं आशा है, अनास्था नहीं आस्था है। उम्मीदें मौजूद हैं। कवि ने लिखा है-

''बहुत कुछ बीत गया है जे.एन.यू. में
लेकिन बहुत कुछ बाकी है
और जो बाकी है उसको बचाने की जिद
होनी चाहिए सबमें।''
(यथोपरि, पृ. 110)

जे.एन.यू. को स्थानवाची न माना जाए तो कितना व्यापक अर्थ द्योतित होता है उपर्युक्त पंक्तियों से। जो कुछ शेष है उसे सम्हालें, उसे बचाए रखने का प्रयास करें तो निराशा के घने अंधकार में आशारूपी दामिनी कौंध सकती है। इससे अनंत संभावनाओं के द्वार उन्मुक्त होंगे। एक नया सवेरा होगा।

अपनी अन्य कविताओं की भाँति जितेंद्र ने इस कविता में भी लोकभाषा के शब्दों को अनायास पिरोया है। यह कविता बार-बार पढ़े जाने की माँग करती है। शब्दों के वाग्जाल या चक्रव्यूह में कविता उलझाए नहीं रखती। छोटे-छोटे पदों से और सीधेपन से कहकर मानों कवि ने संवाद स्थापित किया है अपने पाठकों से। फलस्वरूप, इस कविता की पठनीयता बनी रहती है। गंभीर से गंभीर विषय को सहज भाषा में व्यंजित करने की कला कवि जितेंद्र के पास मौजूद है। देश और काल के तमाम सवालों से टकराती है यह कविता। बेहतर विकल्प की तलाश भी करती है।

अपने समय, समाज, देश-परदेश की समस्याओं और चिंताओं को समेटने वाली इस लंबी कविता का फलक व्यापक है। यह एक बहु-आयामी कविता है। वर्तमान समय की समीक्षा है। बदले हालातों से निजात पाने के लिए वैचारिक खुराक देने वाली कविता है।

जितेंद्र श्रीवास्तव की कविताओं में आम आदमी की मौजूदगी बड़ी शिद्दत के साथ मिलती है। कवि इस आदमी से संवाद करता है। यह संवाद आत्मीयतापूर्ण है। इसी क्रम में कविताओं में यथार्थ के विविध रूप उभरकर आते हैं। जीवन की विडंबनाओं का चित्रण होता है। साथ ही, श्रम और सौंदर्य का अद्‌भुत समन्वय भी। आत्म-संघर्ष भी चित्रित होता है। इस दृष्टि से देखा जाए तो श्रमशील मनुष्य के प्रति जितेंद्र की प्रतिबद्धता औरों से भिन्न है। गाँव से शहर, शहर से महानगर, महानगर से पहाड़ और फिर से महानगरीय मेहनतकशों की आंतरिक दुनिया में कविता पहुँचाती है। स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कवि ने आम आदमी या मेहनतकश लोगों के, जो चित्र अंकित किए हैं वहाँ सहानुभूति नहीं बल्कि संवेदना है। तभी तो कवि के अंतर्मन ने सुप्त व्यक्ति के पीछे छिपे अथाह दु:ख को जानने-समझने की गहरी ललक दिखाई है। 'एक सोते हुए आदमी को देखकर' शीर्षक कविता में कवि ने अपने से पूछा है -

''क्या ऐसा नहीं हो सकता
कि वह सबसे दुखी प्राणी हो धरती का
और दुख को मुँह चिढ़ाने के लिए
अभिनय कर रहा हो निश्चिंत सोने का?''
(असुंदर सुंदर, पृ. 12)

इसी प्रकार 'किरायेदार की तरह' कविता में लोकल ट्रेन में सवार होने वाली गाना-वाना गाकर माँगने वाली औरतों की व्यथा-कथा बड़ी मार्मिक है।

हाशिये की औरत के प्रति समाज की उपेक्षा भी चित्रित हुई है। 'भीतर ही भीतर तिलमिलाती' रहती हैं –

''पर गायब नहीं होने देतीं होठों की हँसी
उन्हें हँसाता रहता है पेट का डर।''
(यथोपरि, पृ. 74)

भैंस चराने वाला गूँगा-बहरा बोधू अपने ''पियराये दाँतों और झौंसाये चेहरे'' के साथ पाठक के सामने उपस्थित होता है। बोधू के विलक्षण शब्द-चित्र अंकित हैं –

''प्रतिरोध में पी जाता था अपने आँसू
और अगले ही घंटे फिर लग जाता था काम पर
जैसे कोई और चारा ही न हो उसके पास''
(यथोपरि, पृ. 119)

जितेंद्र की कविताओं में मजदूरों की विपन्न दशा भी रूपायित हुई है। मजदूरों को छल-कपट नहीं आता। ईमानदारी और मेहनत से प्राप्त मजूरी से वे गुजारा करते हैं। आज के संदर्भ में ईमानदारी का कितना महत्त्व है, यह किसी से छिपा नहीं हैं। कवि-मन इस ईमानदारी को देखकर अत्यंत प्रसन्न होता है। चारों ओर भ्रष्टाचार और घोटालों का बोलबाला है, जिससे समाज तथा देश प्रभावित हो रहे हैं। ऐसे में 'अपनी आत्मा को बचा पाना गर्व और गौरव का विषय है। प्रशासन लूट रहा है और व्यवस्था की लूट भी जारी है। इससे महँगाई तो बढ़ ही रही है, मजदूरों की स्थिति विपन्न हो रही है। बावजूद इसके, मजदूर विश्वास के पात्र हैं। इन्हीं के चलते हमारा समाज जिंदा है, विश्वास बना हुआ है और ईमानदारी कुछ हद तक सही, जीवित तो है-

''श्रम की आँच में तपे इनके चेहरे...
इन्होंने पुतलियों की तरह बचाया है अपनी आत्मा को
ये पहरुए हैं विश्वास के
ये पहचान हैं अपनी मिट्टी की।''
(यथोपरि, पृ. 53)

जितेंद्र की कविताओं में साधारण जन और उपेक्षित लोगों के जीवन अंकित हुए हैं। आम आदमी या मामूली आदमी की दर्दनाक कहानी पेश करती है, जितेंद्र की कविता 'खबर'। दुकान के नौकर की मालिक की लापरवाही के चलते हुई मृत्यु कोई अकेली घटना नहीं है। ऐसा अक्सर होता है कि आम आदमी मारा

जाता है। राजेश जोशी की कविता 'दो पंक्तियों के बीच' में भी 'इत्यादि' वर्ग की ऐसी हालत होती है, जितेंद्र की प्रतिबद्धता स्पष्ट होती है-

''वह एक अदना-सा मजदूर
खींचता था ठेला
बाँधकर पीठ पर बोरियाँ कोशिश करता था हँसने की
आखिर उसकी मौत की खबर से
क्या लाभ साम्राज्यवादियों को, सत्तासीनों को, मीडिया को
जो वे दिलचस्पी लें उसकी जवान मौत में''

जिसकी हत्या हुई वह व्यक्ति मात्र नहीं है। दरअसल, वह समूचे वर्ग का प्रतिनिधि है। टाइप चरित्र है। आज ऐसी घटनाएँ बिल्कुल आम बन चुकी हैं। कवि इन्हीं उपेक्षित और पीड़ितों का पैरोकार है। उसने स्पष्ट घोषणा की है -

''मैं कवि हूँ, हूँ कवि उनका
जिनको नहीं मयस्सर नींद आँख भर
नहीं मयस्सर अन्न आँत भर
मैं कवि हूँ हाँ, मैं कवि हूँ
उन उदास खेतों के दुख का
जिनको सींच रहे हैं आँखों के जल''
(यथोपरि, पृ. 66)

प्रगतिशील चेतना के कवि जितेंद्र श्रीवास्तव की कविताओं में मानवीय संवेदना, प्रखर यथार्थबोध और शोषित व्यक्ति के प्रति गहरा लगाव दिखाई पड़ता है। प्रगतिशील चेतना के प्रति सर्वदा अपनी वैचारिक प्रतिबद्धता प्रदर्शित करते हुए कवि खुलासा करता है -

''इस दुनिया में
जिंदगी महज सत्तासीनों के पास नहीं
उनके पास भी है
जिनके बच्चे खो-खप जाते हैं
तो शासन-प्रशासन की सेहत पर
कोई फर्क नहीं दिखता है
फिर भी दुनिया चलती है
हालाँकि बदल जाती तो बेहतर होता।''
(यथोपरि, पृ. 118-119)

यहाँ प्रचलित शासन-व्यवस्था का खुला विरोध किया गया है। मुट्ठी भर लोगों के लिए दुनिया की सारी सुख-सुविधाएँ हुआ करती हैं। कवि एक बेहतर दुनिया का सपना पाले रखता है जहाँ सभी समान हों। जाति-वर्ण-भेद न हो। सभी का समान अधिकार हो। ऐसी एक दुनिया बने तो कवि का सपना सच हो जाए। जितेंद्र का कवि अपने सपने को पूरा करने का भरसक प्रयास करता है। एक ईमानदार प्रयत्न बना रहता है। यह जितेंद्र की एक खास 'जिद' है और विशेषता भी।

जितेंद्र ने अपनी पीढ़ी के रचनाकारों से, जो विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है, इसके कई कारणों में से एक कारण उनका लोक-तत्त्व है। वास्तव में कविता वही टिकती है, जिसमें लोक उपस्थित होता है। तात्कालिकता का चित्रण कविता नहीं कहलाता। विद्यापति, कबीर, सूर, तुलसी से लेकर निराला, नागार्जुन, त्रिलोचन की कविताओं की कालजयिता बनी हुई है तो इसलिए कि इसमें शास्त्र की तुलना में लोक को अधिक महत्त्व दिया गया है। हालाँकि, लोक-चित्रण के नाम पर लोक तत्त्वों को समावेशित कर देने का कोई मतलब नहीं होता है। पहले लोक में जीना पड़ता है, उसमें रचना-बसना पड़ता है। इसके बाद उस लोक को कविता में उतारना होता है, जितेंद्र की कविताओं में लोक का विवेचन करने से पहले अपने समय की प्रसिद्ध कवि अनामिका को उद्धृत करना अनुचित नहीं लगता है ''जितेंद्र श्रीवास्तव की बड़ी विशेषता यह है कि उनसे अपनी 'सोनचिरई' नहीं बिसरी और लोक-संदर्भों में राजनीतिक विनियोग का सौष्ठव उन्होंने कायदे से साधा। सिर्फ लोक संदर्भों से ही नहीं, शास्त्रीय संदर्भों से (कालिदास से, गालिब से...) इनकी कविता सजग संवाद कायम करती है।'' सिंह, अनंत कुमार, जनपथ, नवंबर 2011 में अनामिका का आलेख 'जहाँ अनुभव धूप में अपनी देह सुखाता हैंश, पृ. 30) कहना गलत न होगा कि जितेंद्र की 'सोनचिरई' कविता 'मास्टर पीस' है। इसका कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इसकी कई सार्थक नाट्य प्रस्तुतियाँ भी हो चुकी हैं। लोक-गाथा को कवि ने अद्‌भुत सफलतापूर्वक समकालीन कविता के साँचे में प्रस्तुत किया है। किस्सागोई तो है ही। नारी-दृष्टि भी है। नारी की विडंबनाओं की काव्यिक अभिव्यक्ति है। यथार्थ की निष्कपट प्रस्तुति भी मौजूद है। उग्र नारीवाद (रैडिकल फेमिनिज्म) की दृष्टि से कविता भले ही 'अनफिट' हो जाए लेकिन नारी की सृजनधर्मिता को रेखांकित करने में कवि की कोई चूक नहीं दिखती। पुनः यहाँ नारी पुरुष से किसी भी अर्थ में न्यून नहीं है बल्कि वह पुरुष से श्रेष्ठ

साबित होती है। इतना ही नहीं, सभ्यता-समीक्षा की दृष्टि से भी इस कविता का महत्त्व स्वयंसिद्ध है। नारी जीवन का यथार्थ स्वीकार करते हुए कवि ने जो दृष्टि स्थापित की है, उसकी प्रशंसा जितनी भी की जाए वह कम ही होगी। जहाँ तक स्मरण है, यह कविता 1998 में 'पहल' के किसी अंक में प्रकाशित हुई थी। तब से लेकर आज तक इस कविता ने जो 'माईलस्टोन' अर्जित की है, वह कवि की सर्वाधिक उपलब्धि है। सोहर सुनने के बाद यह कविता लिखी गई है। लोक-परंपरा कविता में तब तक चलती है जब राज-घराने के सभी आत्मीय, बाघिन, नागिन, माँ तथा धरती में से भी सोनचिरई को पनाह देने से इंकार कर दिया। इसके पश्चात् कवि लिखता है -

''और मित्रो इसके आगे जो हुआ
वह किसी किस्से में नहीं है।''
(इन दिनों हालचाल, पृ. 22)

यहाँ से कविता में नया पड़ाव आता है, आधुनिकता या यूँ कहें कि समकालीनता जुड़ती है। कवि के इतिहासबोध का अहसास भी कराती है कविता 'सोनचिरई'। इन बातों का विस्तार किए बिना इस कविता के एक अन्य बिंदु को सामने लाना आवश्यक प्रतीत होता है। सोनचिरई की अर्थी को कंधा देते हैं उसके आठ बेटे। मृत्यु फिर भी उल्लास! मृत्यु में भी प्रेम का अभिषेक! दुर्लभ है ऐसा चित्रण। समकालीन हिंदी कविता की बड़ी उपलब्धि है 'सोनचिरई'। लोक में बिना रचे-बसे ऐसी कविताएँ नहीं जनमतीं। 'इन दिनों हालचाल' के नए रूप में चयन एवं संपादन करने वाले दिनेा श्रीनेत ने सही लिखा है -

''उसने दिल्ली की चौंध और जे.एन.यू. की आधुनिकता में खुद के वजूद को मिटने नहीं दिया। उसने जिद करके स्मृतियों की गठरी अपने कंधे पर लादी और उन्हें हरदम साथ लिए रहा। उसने इंकार किया। हर दूरी से इंकार... जितेंद्र ने लोगों को, ...अपने गाँव को, यहाँ तक कि नदी को उसकी स्मृतियों के साथ शुरू किया। उन्होंने स्मृतियों की पुनर्व्याख्या भी की और 'सोनचिरई' व 'गुर्रा नदी' जैसी अविस्मरणीय कविताओं को रचा।" (यथोपरि, पृ. 17)

जितेंद्र श्रीवास्तव के 'अनभै कथा' में 'नवान्न', 'बँसुला', 'खुरपी', 'बैल', 'पहाड़' सात कविताएँ', 'धतूरा', 'भुट्टा', 'कुदाल' आदि कविताएँ किसानी सभ्यता और संस्कृति से ही संबंधित नहीं हैं बल्कि लोक-जीवन के सतरंगी बिंब प्रस्तुत करती हैं। इसके बाद के कविता-संकलनों में भी लोक-चित्रण का अभाव नहीं है, जितेंद्र की कविताओं में लोक-जीवन का

विविधता के साथ चित्रण मिलता है। लोक के विभिन्न रूपों की मौजूदगी है। कवि की देशजता उसकी विशिष्टता की पहचान है। कवि का 'लोक' नैसर्गिक, अनायास और स्वत: पूर्ण रूप से उभरा है। कृत्रिमता और सायासता से कोसों दूर है।

कवि ने अपने परिवेश के भूगोल को जीवित तो किया ही है, इसके साथ लोक-जीवन को भी उकेरा है। ऐसे दर्जनों शब्दों से जितेंद्र के पाठक रू-ब-रू हो सकते हैं, जो लोक से कविता में घुल-मिल गए हैं। कई क्रियारूप भी संभवत: पहली बार हिंदी कविता में प्रयुक्त हुए हैं। तिजहरी (पृ. 15), हरियर-हरियर, पीयर-पीयर (पृ. 20), धधाकर मिलते हैं लोग (पृ. 36), लोक पानीदार (पृ. 36), सोनमछरी (पृ. 71), भरापन (पृ. 74) लट-ओरियान (पृ. 77), मन रूँधित (पृ. 83), छीना-झपटी (पृ. 89), पियराई (पृ. 90) आदि के प्रयोग से खड़ी बोली की कविता समृद्ध हुई है। पुन: इन प्रयोगों से कवि का निजी लहजा भी स्पष्ट होता है। भाषा के प्रति, शब्द-चयन के प्रति जितेंद्र सचेत हैं। दरअसल, 1986 से लेकर 2011 तक यानी पिछले पचीस वर्षों की काव्य-साधना के पश्चात कविता का जो स्वरूप खड़ा होता है वह पाठकों को आकृष्ट करता है। शब्दों की मितव्ययिता जितेंद्र की सामर्थ्य है। बोलने-बतियाने के लहजे में संवादधर्मिता ने पठनीयता को जीवित रखा है।

आज पूँजीवादी शक्तियाँ साम्राज्यवाद की मिलीभगत से लोक को विनष्ट करने के लिए कमर कस रही हैं। समकालीन हिंदी कविता में विजेंद्र के बाद की पीढ़ी में से लोक गायब हो रहा है। दरअसल, लोक को विलुप्त करने के प्रयास के दौर में लोक को स्थापित करने का प्रयत्न अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। लोक को बचाने का मतलब है मनुष्यता को बचाना। साम्राज्यवादी शक्तियों से लोहा लेना भी है, अत: जितेंद्र के सृजन-जगत में लोक से प्रेम परंपरा का निर्वाह करना नहीं है। इसमें कवि के साम्राज्यवाद का विरोध और प्रतिरोध भी समाहित है, जितेंद्र की कविताओं में सर्वहारा की आशाओं और उम्मीदों के चित्र अंकित हुए हैं। लोक में जीवन धारण करते हुए, उससे अभिन्न रूप से जुड़ते हुए संघर्ष को आधार बनाकर, जो लोकधर्मिता खड़ी होती है, उसमें सौंदर्य ओत-प्रोत है। वरिष्ठ कवि विजेंद्र ने लिखा है - "लोकधर्मी सौंदर्यशास्त्र का गहरा संबंध हमारी धरती, जड़ों और जातीयता से है, जो कविता जितनी लोकधर्मी सौंदर्यशास्त्र को रचेगी वह उतनी ही हमारे देशवासियों की क्रियाशीलता तथा इच्छा-आकांक्षाओं को कहेगी।" (विजेंद्र, सौंदर्य शास्त्र रू भारतीय चित्त

और कविता, संस्करण, पृ. 81) कवि जितेंद्र की कविता इस अर्थ में भिन्न है कि यह मेहनतकश लोगों के साहस और आस्था के व्यापक अनुभव समेटती चलती है। इसमें कवि के समय, जीवन और स्वभाव चित्रित हुए हैं। कवि का लोक निराला है। यूँ कहा जा सकता है कि कवि का लोक-कवि का ही है। अकाल, भुखमरी, बेरोजगारी आदि से पीड़ित लोगों के सौंदर्य को प्रस्तुत करने में कवि सिद्धहस्त प्रतीत होता है, जितेंद्र की लोक-चेतना को अधिक व्याख्यायित न करते हुए केवल कुछ काव्य-पंक्तियाँ प्रस्तुत करना समीचीन लगता है –

''पल्ला गढ़ना हो जुआठ गढ़ना हो
गोड़ा गढ़ना हो पलंग गढ़ना हो
पालना गढ़ना हो चाहे बँसखटिया
कोई भेद नहीं करता बँसला।"
(अनभै कथा, पृ. 42)
''खुरपी न हो जिसके घर/गाँवों में
काम पड़ने पर/पलिहर का बानर हो जाता है वह''
(यथोपरि, पृ. 44)
''एक दिन कुदार चलाया और
बेंवच गया शरीर
अरे मुँह में कौर नहीं पड़ेगा
तो 'छठी का दूध' याद आ जाएगा।"
(यथोपरि, पृ. 71)
"लाल चुनरिया-ओढ़ सँवरिया
विचर रही है खेतों में
हरियर-हरियर फसलों में
पीयर-पीयर माटी में।"
(यथोपरि, पृ. 71)

सूत्र रूप में कहा जा सकता है कि जितेंद्र श्रीवास्तव की कविताओं में लोक की महत्त्वपूर्ण उपस्थिति है, जो कवि का प्रमुख वैशिष्ट्य है।

पूँजीवादी समाज व्यवस्था में 'प्रेम' भी बिकाऊ है। वह जमाना बीत चुका है कि कबीरदास ने माना था – "प्रेम न खेती ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय।" आज समाज काफी बदल चुका है। प्रेम का स्वरूप भी बदल रहा है। 'लिव इन टुगेदर'

के जमाने में प्रेम की बात करना मध्यकालीनता समझा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि आज की प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रेम की अतीव आवश्यकता है। हिंसा, घृणा, लूट-पाट, दंगों और वैमनस्य के दौर में प्रेम ही एक ऐसा तत्त्व हैं, जो सारे संसार को एक सूत्र में पिरो सकता है, जितेंद्र की कविताओं में प्रेम का व्यापक रूप में चित्रण हुआ है। इसकी व्याप्ति सुदूर तक है, अत: सही कहा गया है - "...प्रेम की व्याप्ति जितेंद्र की कविताओं में न केवल स्त्री की आंतरिक दुनिया की वेदनाओं तक फैली हुई है बल्कि इसकी जद में वह सारा समय-समाज दाखिल होता है जो किसी न किसी रूप में कवि के निजी अनुभव का हिस्सा रह चुका है। यहाँ कवि खुलकर स्वीकार करता है कि वह प्रेम ही है, जिसने उसे और उसकी संवेदना को अधिक मानवीय, भावाकुल और निडर बनाया है।" (यथोपरि, फ्लैप से उद्धृत) जितेंद्र के लिए प्रेम एक संबंध है, संपर्क भर नहीं।

साहित्य और प्रेम का अटूट रिश्ता है। सच है कि साहित्य में परकीया प्रेम का आधिक्य रहा है, लेकिन, ऐसा भी नहीं है कि दांपत्य-प्रेम के मनमोहक चित्र प्रस्तुत नहीं हुए हैं। रबर्ट ब्राउनिंग हों या सीताकांत महापात्र, केदारनाथ अग्रवाल हों या सुरेंद्रनाथ मजुमदार-सभी ने विभिन्न युगों में दांपत्य-प्रेम को प्रतिष्ठित किया है। खुशी की बात है कि कवि ने दांपत्य-जीवन के प्रगाढ़ प्रेम को अंकित किया है बिल्कुल अपने ढंग से, नितांत निरालेपन के साथ। कवि के शब्द बहुत ही कम, पर कहते हैं बहुत अधिक। शब्दों में ही नहीं शब्दों के बीच में भी भावों का संगुफन है। ये भाव कवि-कल्पित नहीं, अंतस की गहराई से उत्पन्न हैं। अनुभव के रस से पगे हुए हैं।

जितेंद्र की कविताएँ बहु-आयामी हैं। प्रेम कविताओं के विभिन्न संदर्भ हैं तथा विविध परिप्रेक्ष्य। प्रेम के इतने वैविध्य उनके समकालीन कवियों की रचनाओं में अनुपस्थित हैं। दांपत्य प्रेम पर आधारित कविताओं में प्रकृति, समय, समाज, विचार आदि विभिन्न रूप से घुले-मिले हैं। इन कविताओं में 'वासनाजन्य प्रेम' को महत्त्व नहीं दिया गया है। साथ-साथ दशकों बिताने के पश्चात् उत्पन्न प्रेम की प्रतिष्ठा है। साहचर्य से उत्पन्न प्रेम है यह। 'देह' है पर, देह सब कुछ नहीं है। प्रियतमा से दूर रहकर भी बिल्कुल उसके पास होने के एहसास से कवि भरा रहता है - "तुम रहती हो। गहरे बहुत गहरे कहीं मेरी आत्मा के रस में घुली हुई। जीवन रस की तरह।" (यथोपरि, पृ. 24-25)

'सिर्फ देह' होती तो क्षण भर के लिए एहसास होता। कवि निश्छल रूप से व्यक्त करता है - "यह प्रेम बोध नहीं क्षण भर का यह यात्रा है जीव की।" प्रेम में भौगोलिक दूरी नैकट्य का भाव बनाये रखती है। छोटी-छोटी स्मृतियों व घटनाओं के आधार पर रची गई कविताएँ, पाठक के अंतर्मन को प्रेम से सराबोर कर देती हैं। सैकड़ों कोस दूर रहकर भी प्रेमी स्पष्टतया देख पाता है -

"तुम्हारे माथे पर
उभर आई रेखाएँ
मेरे हाथ की लकीरों जैसी दिखती हैं।"
(यथोपरि, पृ. 23)

अगाध विवास, प्रबल आस्था, समानता से खाद-पानी ग्रहण करती है, जितेंद्र की दुनिया। आज के संशयग्रस्त, संदेहग्रसित अविश्वास भरे समय में जितेंद्र की निम्न पंक्तियाँ अत्यंत सार्थक प्रतीत होती हैं -

"तुम्हारा कहीं भी होना
मेरे साथ होना है
मेरा कहीं भी होना
तुम्हारे साथ होना है।"
(यथोपरि, पृ 14)

इस अनोखे प्रेम-संबंध में 'साथ होना' से भी बढ़कर है 'आँख में रहना'। विदाई के वक्त में कवि स्पष्टतया स्वीकार करता है यानी महसूस करता है - "इतने वर्ष शहर में नहींतुम्हारी आँख में रहा हूँ मैं जब तुम नहीं फिर मैं कहा!" (यथोपरि, पृ. 12)

इस संग्रह की एक उल्लेखनीय विशेषता है कि कवि ने अपनी पत्नी-प्रियतमा को अपने से भी अधिक महत्त्व दिया है। अपनी पत्नी-प्रियतमा के प्रेम को प्रतिष्ठित करता है। कवि का संपूर्ण अस्तित्त्व 'तुम' पर निर्भर करता है। वह मुक्त-कंठ से 'तुम' की प्रशंसा करते नहीं अघाता - ''जो सब कुछ कर लेती हो हँसती हुई चुपचाप।'' कवि की स्वीकारोक्ति है कि वह 'तुम' जैसा बन पाने की कोशिश करेगा। 'तुम' की तरह बनने, सुनने का प्रयास करेगा। कवि के शब्दों में - ''फिर भी एक इच्छा है मन में कि अबकी जब मैं घर जाऊँ तुम अपनी कहो अपने जैसों की कहो, और मैं सुनूँ उसी तरह, जैसे सुनती हो तुम वैसे सच-सच बताना क्या तुम्हें लगता है, मैं सब कुछ सुन पाऊँगा। बिल्कुल तुम्हारी तरह।'' (यथोपरि, पृ. 62-63)

ध्यान देने की बात है कि न तो यहाँ 'आइडेंटिटी क्राइसिस' का सवाल है और न ही संबंधों की टकराहट है। रोज-ब-रोज टूटते-बिखरते पारिवारिक संबंधों का दंश भी नहीं है। कवि अपने समय और समाज से बेखबर नहीं है, घरेलू हिंसा, संबंध-विच्छेद, असहिष्णुता से भरपूर समाज के लिए कवि की पंक्तियाँ 'कैप्सूल' बनकर आती हैं। कवि ने अपनी कविताओं में छोटी-छोटी स्मृतियों और मामूली घटनाओं को असाधारण बना दिया है। मसलन, इसी कविता 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' की कुछ पंक्तियाँ - ''पर क्या करूँ, कहाँ से लाऊँ अपने भीतर एक स्त्री की आत्मा! वह भी एक ऐसे समय में, जब बच्चियाँ मारी जा रही हैं कोख में ही।'' (यथोपरि, पृ. 62) भ्रूणहत्या की चिंता तो है ही, पुरुषवादी वर्चस्व की जघन्य मानसिकता का पराभव भी है। कवि का सपना है एक प्रेममय समाज। उसकी स्थापना प्रेम से ही संभव है। ओछी मानसिकता को त्यागने के पश्चात् वैसा मुमकिन हो सकता है। मर्दवादी सामाजिक संरचना में बहुत कम कवियों के पास साहस होगा यह कहने के लिए कि "स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती है पुरुषों को"। 'स्मृतियों में बसी स्त्री' ही पुरुष को कुमार्ग से बचाती है, पथभ्रष्ट हो जाने से रोक लेती है और अकाल मृत्यु से उद्धार कर लेती है।

यहाँ एक अन्य उल्लेखनीय खूबी है कि प्रकृति प्रेम के इशारे पर उसके अनुकूल चलती है। तमाम कविताओं में यह वैशिष्ट्य नजर आता है। ऐसा तब संभव होता है जब कवि का कर्म, धर्म, सपना, उद्देश्य प्रेम हो। प्रियतमा के आगमन पर प्रकृति चल-चंचल हो उठती है। प्रियतम का मन खिल उठना तो स्वाभाविक है ही - ''चली हवा झुका पीपल सिहरी डाली हरसिंगार की ६ मन खिला बसंत का।'' (यथोपरि, पृ. 28) पुनः पुरानी यादों को तरोताजा करने के लिए प्रेमिका ने बक्से से चिट्ठी निकाली तो - ''चाँद मुस्करा दिया होगा हौले-से।" या फिर, प्रेमिका की हँसी की प्रतिक्रिया प्रकृति पर यूँ होती है -

"तुम हँसी और नंदादेवी की चोटियों पर
खिल उठी धूप
पसर गया उजास पर्वत प्रदेश में
जैसे पसरता है मेरे मन में।"
(यथोपरि, पृ. 20)

समकालीन कविता में घर की चिंता बार-बार दिखाई पड़ती है। चंद्रकांत देवताले, नरेश सक्सेना, भगवत रावत, राजेश जोशी, अरुण कमल आदि की

कविताओं में रचे-बसे घर की चिंता जितेंद्र को भी है। 'घर' मकान में तब्दील हो रहे हैं, 'फ्लैट' या 'कॉटेज' में बदल रहे हैं। जितेंद्र की प्रेम कविताओं में समय की यह बिडंबना बड़ी शिद्दत के साथ चित्रित हुई है। ईंट, लोहा, बालू, सीमेंट से घर कहाँ बनता है? घर बनता है स्नेह, प्रेम, विश्वास और संवेदना के भंडार से। इसलिए कवि के कदम उस घर की ओर भागते हैं - ''मेरे कदम भागते हैं हर साँस के साथ, मैं पहुँचता हूँ घर जहाँ, मेरी प्रतीक्षा से लंबी एक प्रतीक्षा। राह अगोरती मिलती है मुझसे।'' (यथोपरि, पृ. 87) 'घर' मधुर संबंध का प्रतीक है। प्रेम का निकेतन है। 'घर की चाय' शीर्षक कविता की अंतिम पंक्तियाँ हैं - ''पत्नी के बिना घर की चाय लगा जैसे गरम पानी उतारना हो हलक में।'' (यथोपरि, पृ. 91) इसी प्रकार कवि को तलाश है एक घर की - "अब मिली हो तुम लगता है, घर भी मिल जाएगा, तुम्हारी बाँहों में तुम्हारे प्यार में, तुम्हारी मुस्कान में।'' (यथोपरि, पृ. 69) कवि जितेंद्र की कविताओं में अभिव्यक्त प्रेम समाज से संपृक्त है। मानव-जीवन की मूल्यवत्ता व सारवत्ता बनकर प्रेम उज्जीवित हुआ है - "लोग आते हैं, खिलखिला उठता है घर।'' (यथोपरि, पृ. 54)

आलोच्य कविता-संग्रह में समय और समाज के अँधेरे कोने कुचालों की ओर संकेत है, लेकिन इस संग्रह में कवि का उद्देश्य रहा है उन अँधेरे कोनों से मनुष्य को उबारकर सतत् उजास की ओर प्रेरित करना। उन संभावनाओं को तलाशा एवं तराशा जाए जिससे हताश, उदास, क्लांत, भयभीत मनुष्य डरे नहीं, सहमे नहीं, निराश न हो। कवि का आग्रह है- ''यह समय तुम्हारा है, सिर्फ तुम्हारा, उठो, लपककर छू लो आकाश। यह धरती भी तुम्हारी है आकाश भी तुम्हारा।'' (यथोपरि, पृ. 67)

दुख, निराशा, उदासी आदि से कवि नई ऊर्जा ग्रहण करता है। प्रतिकूल परिस्थितियों में भी संघर्षरत रहता है। अदम्य जिजीविषा के साथ जीवन को जीने के लिए प्रेरित करता है। कवि कहता है - "देखो, तुम्हारे पति के पास एक किसान की विरासत है, उसने अपने पिता की आँखों में कभी साँझ नहीं देखी अपनी माँ को कभी हारते नहीं देखा उन दुर्दिनों में भी नहीं, जब कैंसरग्रस्त पिता मृत्यु से जूझ रहे थे।" (यथोपरि, पृ. 95) कवि ने एक ऐसा शहर बसाना चाहा है जहाँ भेदभाव न हो, कोई अत्याचार न हो, ऊँच-नीच, छूत-अछूत का विवाद न हो। उस शहर में मनुष्य हों और बची रहे मनुष्यता - "उस शहर में कोई किसी का राजा नहींकोई किसी की प्रजा नहीं, कोई किसी के अधिकार में नहीं रहता कोई किसी पर अत्याचार नहीं करता।" (यथोपरि, पृ. 81)

जाहिर है कि ऐसा शहर प्रेम की आधारिशिला पर ही निर्मित किया जा सकता है। प्रेम की चिरंतनता पर एक उत्कृष्ट कविता है 'सपने में एक लड़की - सोनमछरी' जिसमें कस्बाई निर्धन बच्चे के सपने में आने वाली सोनमछरी का मर्मस्पर्शी चित्रण है।

सच है कि 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' जितेंद्र की प्रेम-कविताओं का संग्रह है, लेकिन यह प्रेम के मार्फत उन मानवीय संबंधों का अन्वेषण भी है, जिन्हें हमारे पारंपरिक, पारिवारिक या सामाजिक नाते-रिश्तों के दायरे में नहीं समेटा जा सकता है। इस दृष्टि से इस संकलन की कविताओं का विशेष महत्त्व है। कविता में अभिव्यक्त कवि की जीवन-दृष्टि यह सिद्ध करती है कि उसकी कविता पूरे देश-काल में अंतर्निहित कविता है। कवि अकेले नहीं साथ-साथ जीने की अभिलाषा प्रकट करता है। इससे जीवन सँवार सकता है। कवि के शब्दों में - "जीवन चार आँखों से देखा गया एक सपना बीस ऊँगलियों से तराशी हुई एक तस्वीर चार पैरों से चली हुई दूरी बिन बोले चार अधरों का कंपन बिन कहे एक दूजे के लिए बटोरा ऑक्सीजन है।" (यथोपरि, पृ. 22)

'बिल्कुल तुम्हारी तरह' की कुल 61 कविताओं में से अधिकांश कविताएँ ताजे-टटके बिंब निर्मित करती हैं। इन बिंबों का सर्वथा नया प्रयोग होता है। 'कविताई' को ये बिंब नए आयाम देते हैं। 'उजास: कुछ कविताएँ' शीर्षक के अंतर्गत बारह छोटी-छोटी कविताएँ जितेंद्र के कवि को मौलिक बनाती हैं। एक-आध उदाहरण दृष्टव्य हैं -

1. ''अधर खुले उसके
   जगह बनी
   हवा जाने भर की
   शब्द निकला एक
   मंदिर में घंटियाँ बज उठीं अनेक।''
   (यथोपरि, पृ.19)
2. "वह साँझ जो आने को है अभी
   ठिठकी खड़ी है पीपल की पत्तियों के बीच देखती-सी
   कि तुम जाती हो''
   (यथोपरि, पृ. 77)
3. "पलकों पर ठहरी थीं दो बूँदें
   अधरों पर चिलबिल हँसी
   एक बूँद ठोढ़ी पर काँपती-सी

अब ढुलकी कि तब ढुलकी।''

(यथोपरि, पृ. 77)

'इन दिनों हालचाल', 'अनभै कथा', 'असुंदर सुंदर' कविता-संग्रहों के पश्चात् 'बिल्कुल तुम्हारी तरह' का विशेष महत्त्व है, जितेंद्र श्रीवास्तव ने अपने अंतरतम प्रेम-सौंदर्य के माध्यम से सुंदर समाज के निर्माण का सपना देखा है।

इस संदर्भ को विराम देने से पहले कपिलदेव के कथन को उद्धृत करना अनुचित न होगा - "जितेंद्र का कवि सरल निश्छल जीवन की खोज में हर उस जगह जाना चाहता है, जहाँ प्रेम एक आदत की तरह हो - मानो जीवन का सार। गौर करने की बात है कि जितेंद्र एक युवा कवि हैं और शायद इस मामले में अकेले कि अपने निजी प्रेम-प्रसंगों को लगभग उसी किशोर भावुकता और रोमानियत के साथ उन्होंने अपनी कविता का विषय बनने दिया है जैसा कि अनुभूति के टटकेपन में उसने महसूस किया होगा। ...जितेंद्र का 'प्रेम' दैहिक दायरे से निकलकर अपने विस्तार में पूरी कायनात को समेट लेने को उत्सुक है। न केवल उत्सुक, बल्कि कल्पना की असंभव हदों तक जाकर उस स्वप्न-संसार को संभव कर लेना चाहता है।" (कपिलदेव, अंतर्वस्तु का सौंदर्य, पृ. 46-47)

अब जितेंद्र की कुछ कविताओं का उल्लेख भर किया जा सकता है, जिनके केंद्र में कवि की नारी दृष्टि है। बताना अनावयक न होगा कि कवि की अपनी पत्नी-प्रियतमा, बेटियों से संबंधित कविताओं के अलावा 'लड़कियाँ', 'राय प्रवीन', 'आभा चतुर्वेदी', 'जनवरी की एक सुबह उठी तीन स्त्रियाँ', 'दुख पहाड़ का', 'किरायेदार की तरह', 'तुम कहाँ हो सुलेखा', 'सपने में एक लड़की सोनमछरी', 'परवीन बॉबी', 'पुकार' आदि पचासों कविताएँ हैं जहाँ नारी का मुक्ति-संघर्ष रूपायित हुआ है। नारी की इच्छा के बारे में बताया गया है कि नारी चाहती है संवेदना का विस्तार। सहभागिता। बराबरी का अधिकार। वह साथ-साथ चलने का सपना साकार करना चाहती है। नारी-विमर्श का पुरुष पाठ नहीं है, जितेंद्र श्रीवास्तव की कविताएँ। कवि 'कायांतरण' से बड़ी शिद्दत के साथ अपनी स्त्री को स्पष्ट करता है। व्यष्टि से समष्टि की यात्रा जितेंद्र की खूबी है। स्त्री दोयम दर्जे की नहीं, सहगामिनी है। वह मनुष्य पहले है नारी बाद में। इस दृष्टिकोण ने जितेंद्र को विशेष महत्त्व प्रदान किया है।

जितेंद्र की नारी महानगरी आभिजात्य बोध वाली 'अल्ट्रा मॉडर्न' नारी नहीं है, जो पार्टियों में खूब शेखी बघारती है। उनकी नारी नारीविमर्श का डंका भी

बजाती नहीं फिरती। लेकिन जितेंद्र की नारी रक्त-मांस की बनी हुई होती है। 'घास गढ़ती औरतें शीर्षक कविता में कवि ने अपनी नारी दृष्टि का' जो परिचय दिया है वह किसी भी अर्थ में पारंपरिक या दकियानूसी विचार की नहीं है -

"जायज बातों पर खुश
और नाजाएज बातों पर
साड़ी खूंटियाकर लड़ने को तैयार
घास गढ़ती औरतें
कभी नहीं सिखाती हैं जवान होती बेटियों को
कि पति परमेश्वर होता है।"
(इन दिनों हालचाल, पृ. 40)

जितेंद्र की कविता में 'शोर' नहीं है। बड़े गंभीर विषय को भी अति सहज रूप में कहने की कला है कवि के पास। 'पति परमेश्वर' नहीं होता है अर्थात् होता है, सहगामी होता है। उससे अधिक कुछ नहीं होता। पत्नी कुछ कमतर नहीं होती। इस प्रकार के तमाम भाव चंद शब्दों में प्रकट कर देना जितेंद्र का वैशिष्ट्य है। "अमित अरथ आखर थोरे।" इस कविता के अंत में कवि की दृष्टि बिल्कुल स्पष्ट होती है-

"बोरसी की राख में छिपाकर
रख देती हैं थोड़ी-सी आग।"
(यथोपरि, पृ. 41)

'थोड़ी-सी आग' रागात्मक संबंध का प्रतीक बनकर आ सकती है। आने वाले कल के लिए सुखद कामना हेतु भी हो सकती है। विद्रोह के अर्थ में भी आग प्रयुक्त हो सकती है। संबंधों की उष्मा हेतु भी प्रयुक्त हो सकती है, जिसे बचाए रखने का प्रयास करती है घास गढ़ती औरत। नव-सृजन हेतु भी आग की आवश्यकता है।

जितेंद्र की दृष्टि में नारी खिलौना नहीं होती कि जब जैसा जी चाहे उससे खेल लिया जाए। उसकी अपनी मर्जी होती है। उस पर कोई दबाव नहीं डाला जा सकता। उसे यानी उसकी संवेदनाओं को जानना-समझना आवश्यक है। कवि के शब्दों में -

"औरतें खूबसूरत पहाड़ नहीं होतीं
जिनकी कोई मर्जी न हो
औरतें बिस्तर भी नहीं होतीं

न ही नुमाइश"

(यथोपरि, पृ. 59)

'नैतिकता के बाहरी कोतवालों को' अस्वीकार करने वाली 'परवीन बॉबी' हो अथवा पत्नी का अपनी माँग पर 'सिंदूर' धारण करना हो, 'स्त्रियाँ कहीं भी बचा लेती हैं पुरुषों को' हो या 'वे उड़ती हैं गोरैया की तरह', यत्र-तत्र सर्वत्र जितेंद्र की कविताओं के केंद्र में स्त्री स्थित है। कपिलदेव ने लिखा है - "इन कविताओं में स्त्री की 'सप्रेस्ड पर्सनेलिटी' को देखने का मानवीय प्रयत्न झाँकता है। यहाँ स्त्री की उफनती हुई, विमर्श करती हुई, मुक्त यौनता का कोई घटाटोप भी नहीं है। यहाँ तो पूरे भारतीय-पारंपरिक संदर्भों में पुरुषों से पिटती हुई दमित, प्रताड़ित और शहीद होती हुई एक ऐसी स्त्री है, जिसे अभी अपने होने की अस्मिता-चेतना प्राप्त करनी है।" (अंतर्वस्तु का सौंदर्य, पृ. 49-50) संक्षेप में जितेंद्र की स्त्री-दृष्टि व्यापक तथा प्रासंगिक है। यथार्थ है तो आदर्श भी है, दोनों का समन्वय भी।

समकालीन हिंदी कविता में किसान जीवन के अनुपस्थित होने की शिकायत होती है। आलोचकों ने भी बार-बार इस ओर कवियों का ध्यान बँटाना चाहा है। किसानों की आत्महत्या, उनके त्रासद जीवन, विसंगतियों और विडंबनाओं की ओर समकालीन कवि नजरअंदाज करता रहा है - ऐसी आपत्तियाँ भी उठाई जाती रही हैं। परंतु, वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। विनोद दास की कई कविताओं में किसान-चिंता है, जितेंद्र तो स्वीकार करते हैं कि किसान-चेतना उन्हें विरासत में प्राप्त है। किसान-पत्नी के जीवन का वर्णन करते हुए जितेंद्र लिखते हैं -

"वे औरतें कभी रोपती हैं धान
कभी काटती हैं गेहूँ
कभी करती हैं सोहनी
कभी उठाती हैं गारा-माटी
और कभी-कभी बिलखती हैं सखियों संग
अपने होने को लेकर।"

(असुंदर सुंदर, पृ. 94)

परंपरा के साथ संबंध स्थापित करते हुए कवि ने समकालीन यथार्थ को चित्रित किया है। किसानों के संदर्भ में बात करते हुए कवि शब्द-चित्र बनाता है -

"पर यह सुबह सुहानी है कि उम्मीद बुझाती
ठीक-ठीक बताएँगे वे किसान
जो तार-तार धोती लपेटे मिर्जई अंटकाए
देखते हैं कभी खलिहान कभी बादल।"
(अनभै कथा, पृ. 97)

प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' का हल्कू की बरबस याद आती है, जितेंद्र के किसान की दशा का चित्र पढ़कर। कवि जितेंद्र की कविताओं में लोक है, किसान जीवन में प्रयुक्त होने वाले तमाम उपकरण हैं तो स्वाभाविक है कि किसान-चेतना से समृद्ध कविताएँ भी होंगे। हैं भी। जितेंद्र न केवल किसान जीवन की दुर्दशा अभिव्यक्त करते हैं बल्कि उन पर गहरा विश्वास भी रखते हैं -

"यह धूम है कि आग
ठीक-ठीक बताएँगे वे किसान
जो बिना पनही महसूसते हैं इसका असर
धरती पर, आत्मा पर।"
(यथोपरि, पृ. 98)

भूख और लाचारी, अभावग्रस्तता और दरिद्रता, अशिक्षा और बीमारी के चलते किसान आत्महत्या कर रहे हैं अथवा असमय मारे जा रहे हैं। एक तबका नाच-गान में मस्त है, जो शासक के नाम से जाना जाता है कवि ने लिखा है -

"अब भी असंख्य, 'होरियों' की गर्दनें दबी हुई हैं
'नए रायसाहबों' की टाँगों के बीच।"
(कायांतरण, पृ. 47)

युगीन भयावहता में किसान जीवन की करुण गाथा जितेंद्र की कई कविताओं में चित्रित हुई है। यहाँ उल्लेख किया जा सकता है कि किसान-चेतना के माध्यम से जितेंद्र केवल आर्थिक संदर्भ की चिंता प्रकट नहीं कर रहे होते हैं बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक संदर्भों को भी उपस्थापित करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए तो जितेंद्र की कविता की दुनिया के विविध संदर्भ भी खुलते जाते हैं।

सांप्रदायिक फासीवाद देश का क्रूर यथार्थ बना हुआ है। धार्मिक सत्ता, सांप्रदायिकता एवं आतंकवाद समाज की कटु सच्चाइयाँ हैं। धर्म ने सत्ता का रूप

धारण कर लिया है। फलस्वरूप, आक्रामकता और कट्टरता फैलने लगी है। जब सांप्रदायिकता सुरसा की तरह अपना मुख फैलाती है तो धार्मिकता को कीड़े-मकोड़े की तरह निगलती चलती है। सांप्रदायिकता फैलने लगती है तो धार्मिकता अप्रासंगिक सिद्ध हो जाती है। अपने समय की विसंगतियों से जूझती जितेंद्र की कविता 'आमी' नदी के किनारे पहुँचकर बुद्ध के आदर्शों को प्रकट करती है तो कबीर की प्रासंगिकता को भी उद्घाटित करती है। सांप्रदायिक उन्माद के नए रूपों बाबरी मस्जिद या अहमदाबाद को दर्ज करती है, अत: जितेंद्र सोची-समझी साजिश को अंजाम देने वाली सांप्रदायिकता की सच्चाई को सामने लाते हैं। मानवता का गला घोंटने वालों, खंजर भोंकने वालों तथा त्रिशूल मारने वालों की नंगई को उघाड़ते हैं। 'किस देश में', 'लुंगी' आदि कविताओं में कवि की सांप्रदायिकता विरोधी मानसिकता स्पष्ट होती है।

अयोध्या प्रकरण भुलाया तक नहीं गया था कि गोधरा की आग भड़क उठी। इंसानियत फिर से शर्मसार हो गई। धर्म और मजहब के नाम पर नंगा नाच देखने को मिला। लोगों को जिंदा जलाया गया और माँ-बहनों की आबरू लूटी गई। कवि-प्राण इससे उद्वेलित होता है। आंदोलित भी। कवि ने इस संहार करने वाली घटना का उल्लेख ही नहीं किया बल्कि उसे नए अर्थ संदर्भ से युक्त भी किया है। अयोध्या और गोधरा क्या केवल भारत के दो स्थान भर हैं? दुनिया के जिस किसी स्थान पर ऐसी संहारकारी लीला घटती है वहाँ अयोध्या, गोधरा, अहमदाबाद खड़े हो जाते हैं -

"पहले एक घर
फिर दूसरा घर
फिर पूरी की पूरी बस्ती
झुलसकर राख हो जाती है
उसी तीली से।"
(अनभै कथा, पृ. 74)

सुखद अतीत और दुखद वर्तमान के बीच कवि खड़ा होकर सचेत करता है मनुष्यता विरोधी ताकतों की छद्मलीला से। आमी नदी का किनारा रक्तरंजित हो रहा है, जिसे देखकर आमी -

"चिल्लाती है गुजरात गुजरात
पूछती है किसी पागल स्त्री की तरह
कहाँ है बुद्ध की धरती

कहाँ है कबीर का वतन"

(यथोपरि, पृ. 61)

'एक भाई का पत्र' शीर्षक कविता की निम्न पंक्तियाँ भी गौरतलब हैं –

"जब भी देखता हूँ देश का नक्शा
इस किनारे उस किनारे
यहाँ-वहाँ जहाँ-तहाँ
दिखता है बस अहमदाबाद अहमदाबाद"

(असुंदर सुंदर, पृ. 104)

इस संदर्भ में 'जरूर जाऊँगा कलकत्ता' के अंतर्पाठ को भी सामने रखा जा सकता है जब वह मिर्जा गालिब को 'हमारे महाकवि' के रूप में सामने लाता है। दरअसल, सांप्रदायिक सद्भाव, सौमनस्य और सौहार्द्र की कामना करती है यह कविता।

पुनः 'लुंगी' शीर्षक कविता की चंद पंक्तियों के माध्यम से जितेंद्र के दृष्टिकोण का पता चलता है –

"जाने कब से किसानों मजूरों का
कभी भगई कभी तहमद
कभी लुंगी के नाम से लाज रखाती वह
किसी धर्म किसी राष्ट्र की कैद में नहीं
किसानों-मजूरों के जीवन में ही
सुख का झंडा बनकर लहराना चाहती है।" (यथोपरि, पृ. 78)

समकालीन हिंदी कविता के सामने बड़ी चुनौती है कि 'कविताई' को कैसे बचाया जाए? पद्य नहीं रह गया है। गद्य की भरमार है। कविता की तमीज नहीं, पर कवि बनने का दंभ छूटता नहीं। धर-पकड़ से पुरस्कृत भी होते जा रहे हैं कई 'कवि'। ऐसे अराजक समय में जितेंद्र का कवि-कर्म आश्वस्त करता है। शब्दचयन में अत्यंत सजग कवि के रूप में जितेंद्र ख्यात हैं। भाषिक मितव्ययिता जितेंद्र की खास पहचान है। आश्चर्य होता है कि जितेंद्र तमाम तरह के संदर्भों और परिप्रेक्ष्यों को सहज तथा सामान्य भाषा में वह भी कविता में उतार कैसे देते हैं? जीवन के जटिल यथार्थ को अत्यंत सहजता के साथ रूपायित कैसे कर पाते हैं? शब्द-जाल से खुद बचकर अपने पाठकों को कभी न उलझाने वाला यह कवि कवि-कर्म को जो रूप प्रदान करता है वह उसका ही वैशिष्ट्य है। "सादगी का यह एक नया काव्य-सौंदर्य है जो शायद हिंदी की समकालीन कविता में

जितेंद्र के माध्यम से पहली बार संभव हो रहा है।" (जितेंद्र श्रीवास्तव, कायांतरण, 2012, फ्लैप से।) जितेंद्र की कविताएँ हमें निराश नहीं करतीं, आशाओं और प्रबल संभावनाओं से भरती हैं। उनकी कविताएँ वर्तमान की विसंगतियों को सामने लाती हैं तो भविष्य की संभावनाओं के द्वार उन्मुक्त भी करती हैं। विरासत के प्रति प्रेम के चलते अतीत तो है ही। सबसे बड़ी बात है कि ये कविताएँ मानवता की रक्षा हेतु कटिबद्ध हैं। प्रेम को माध्यम बनाती हैं। यह प्रेम जितना पत्नी के प्रति है उतना ही प्रकृति और पर्यावरण के प्रति भी। यह प्रेम जितना मानव-समाज के प्रति है, उतना ही अपनी स्वस्थ विरासत के प्रति भी। जितेंद्र की कविताओं में राजनीति का छल-छद्म सूक्ष्मता के साथ चित्रित हुआ है, लेकिन अपने सद्यतम कविता-संग्रह 'कायांतरण' में यह अधिक मुखर हुआ है। अपने समय और समाज के 'व्यापक चेहरे' को यदि हम ढूँढ़ना चाहें तो जितेंद्र की कविताओं से गुजरना होगा। कहने में कोई संदेह नहीं कि इस गुजरने की प्रक्रिया में तमाम उम्मीदों से हमारा साक्षात्कार होगा। काव्य-मूल्य और काव्य-विवेक से रू-ब-रू होने का अवसर मिलेगा। कठिन समय में कवि-कर्म की कठिनाई को युवा कवि जितेंद्र ने जो उदाहरण खड़े किए हैं वे , प्रशंसनीय हैं।

8

समकालीन हिंदी काव्य की प्रासंगिकता

कहा जाता है कि जब कोई कवि वस्तु जगत में स्थित किसी भाव, घटना या तत्त्व से संवेदित होता है तो वह उसे अपनी समर्थ काव्य भाषा द्वारा सहृदय तक संप्रेषित करने का उपक्रम करता है। वह आपने अभिप्रेत भाव को तद्भव रूप में संप्रेषित करने के लिए अपने सृजन क्षण में, शब्दों की सामर्थ्य एवं सीमा का शूक्ष्म संधान कर उसे प्रयुक्त करता है। काव्य रचना अपने आरंभिक क्षण से ही एक सायास क्रिया के रूप में आरंभ हो जाती है, क्योंकि कवि के मानस कल्प में शब्दों की होड़ सी लग जाती है। यही शब्द शृंखलाबद्ध होकर काव्य का रूप ले लेता है, जिस काव्य में हमारे समय के महत्त्वपूर्ण सरोकारों, सवालों से टकराती एक विशेष रूप और गुणधर्म वाली बात परिलक्षित हो वही समकालीन काव्य है, ऐसा माना जाता है।

"समकालीन शब्द" में एक सहज अतिव्याप्ति है, पर दूसरी ओर इसमें एक निश्चित ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करने की क्षमता भी है। इसका सौन्दर्य बोध मानवीय सरोकारों से जुड़ता है और समकालीनता को नितांत समसामयिकता के आग्रह से भिन्न व्यापक अर्थ प्रदान करता है। छायावाद से पूर्व अनगिनत कवि शब्द, अलंकार, छंद, लय, नाद में ही निमग्न फंसे रह जाते थे, खुलकर अभिव्यक्ति का विस्तार नहीं हो पाता था, इसलिए छायावाद के दौरान

ही समकालीन हिंदी कविता का बीजारोपण हुआ, किन्तु यह पुष्पित और पल्लवित हुयी प्रगतिवाद के दौरान।

वैसे छायावाद में ही स्वच्छंदता वादी कल्पना और यथार्थ का संघर्ष प्रकट होने लगा था। कविता अपनी चंदिली मीनारों से बाहर निकलने को बेताब होने लगी थी, जीवन का कर्कश उद्घोष करने को बेचैन दिखने लगी थी यह। शायद इस बात का आभास महाप्राण निराला को छायावाद के दौरान ही हो गया था, इसीलिए उन्होंने छायावाद के भीतर ही छायावाद का अतिक्रमण करके एक नयी काव्य भूमि तैयार की जो आगे चलकर समकालीन कविता या नई कविता के रूप में परिवर्तित हुई। इस काल में सृजित 'तोड़ती पत्थर, 'कुकुरमुत्ता', 'नए पत्ते' की अनेक कवितायें आधुनिक हिंदी कविता में उभरती हुई यथार्थवादी चेतना का स्पष्ट संकेत देती है।

इन कविताओं में जीवन के प्रति एक गहरी आसक्ति, ललक अर्थात् रागधर्मी जीवनोंन्मुखता ही रोमांटिक नवीनता का आभास कराती है। हालांकि कुछ आलोचकों का मानना है कि नई कविता ज्ञान शून्यता में पैदा होती है और ज्ञान के उत्कर्ष से स्वयमेव भाव का अपकर्ष होता है, जबकि इससे अलग तर्क देते हुए समकालीन कविता के प्रबल पक्षधर अज्ञेय और मुक्तिबोध इसे सिरे से खारिज करते नजर आते हैं। अज्ञेय का कहना है कि "भाषा को अपर्याप्त मानकर विराम संकेतों से, अंकों और सीधी तिरछी लकीरों से, छोटे-बड़े टाईप से, सीधे या उलटे अक्षरों से, लोगों और स्थानों के नामों से, अधूरे वाक्यों से - सभी प्रकार के इतर साधनों से कवि उद्योग करने लगा कि अपनी उलझी हुई संवेदना कि सृष्टि पाठकों तक पहुंचा सके। " जबकि इसी सन्दर्भ में मुक्तिबोध कि टिपण्णी है कि " मैं कलाकार की स्थानान्तारगामी प्रवृत्ति पर बहुत जोर देता हूँ। आज के वैविध्यमय, उलझनों से भरे, रंग-विरंगे जीवन को यदि देखना है तो अपने वैयक्तिक क्षेत्र से एकबार तो उड़कर बाहर जाना ही होगा। कला का केंद्र व्यक्ति है पर उसी केंद्र को अब दिशाव्यापी करने की आवश्यकता है। "

यदि इसकी विकास यात्रा पर गौर किया जाए तो समकालीन कविता या नई कविता का बीजारोपण 1936 के आसपास हुआ, जब कविता में कौंग्रेस और वामपंथी दृष्टिकोण एक साथ परिलक्षित हुए। इस वर्ष को कविता की दुनिया में हुए कुछ बुनियादी बदलाव के रूप में देखा जाता है। इस काल के दौरान हिंदी में जो नई यथार्थवादी काव्यशैली का आगमन हुआ उसमें आधुनिक दृष्टि के साथ देसी लोकचेतना का सार्थक समावेश था।

हालांकि नई कविता की एक निश्चित काव्य प्रवृत्ति के रूप में पहचान स्पष्ट हुई 1950 के दौरान, किन्तु केवल एक दशक बाद ही यानी 1960 के बाद एतिहासिक मोहभंग के व्यापक अनुभव के फलस्वरूप कविता की भूमिका में स्पष्ट अंतर आया। यही वह समय था जब केदारनाथ सिंह ने धर्मयुग में प्रकाशित अपने आलेख में "शुद्ध कविता से प्रतिबद्ध कविता की ओर" चलने की सलाह दी। 1980 के बाद कविता सच्चे अर्थों में जीवनधर्मी प्रतीत हुई, जब नई कविता को नए विंब के साथ प्रस्तुत करने हेतु कुमार विकल, ज्ञानेन्द्रपति, आलोक धन्वा, मंगलेश डबराल, अरुण कमल, राजेश जोशी , उदय प्रकाश आदि युवा कवियों का आगमन हुआ।

सभी चरणों में अपनी सार्थक उपस्थिति दर्ज कराने वाले समकालीन कवियों की चर्चा की जाए तो नि:संकोच महाप्राण निराला के बाद अज्ञेय इस दिशा में सर्वाधिक सक्रिय और सम्मानित कवियों में से एक माने गए हैं। इस वर्ष उनका जन्म शती भी मनाया जा रहा है। जबकि शमशेर को नई कविता का प्रथम नागरिक माना गया है। इनके समकक्ष कवियों में अग्रणी रहे हैं मुक्तिबोध, नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, गिरिजा कुमार माथुर, भवानी प्रसाद मिश्र, भारत भूषण अग्रवाल, नरेश मेहता, हरी नारायण व्यास, धर्मवीर भारती, जगदीश गुप्त, ठाकुर प्रसाद सिंह, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुअंर नारायण, विजयदेव नारायण शाही, श्रीकान्त वर्मा, केदारनाथ सिंह, दुष्यंत कुमार, विपिन कुमार अग्रवाल, कीर्ति चौधरी, मलयज, परमानंद श्रीवास्तव, अशोक वाजपेयी, रमेश चन्द्र शाह, श्री राम वर्मा, धूमिल आदि। इनके बाद के कवियों में अग्रणी रहे हैं कमलेश, कुमार विकल, चंद्रकांत देवताले, देवेन्द्र कुमार, विजेंद्र , प्रयोग शुक्ल, विनोद कुमार शुक्ल, लीलाधर जगूड़ी, ज्ञानेन्द्रपति,वेणु गोपाल, मंगलेश डबराल, ऋतुराज, राजेश जोशी, सोमदत्त, गिरधर राठी, सौमित्र मोहन, नन्द किशोर आचार्य, विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, विनोद भारद्वाज, विष्णु नागर, असद जैदी, अरुण कमल, उदय प्रकाश, स्वप्निल आदि।

उपरोक्त सारे कवि चाहे जिस परिवेश या काल के रहे हों अपने शूक्ष्म एवं जटिल भावों को अभिव्यक्त करने में सफल रहे हैं, अपने भावों के सफल संप्रेषण के लिए सभी ने स्थूल रूप में अथवा दृश्य रूप में नए-नए विम्ब के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुए दिखाई देते हैं। कहा भी गया है कि सफल कवि वही है जो शब्दों का अद्‌भुत पारखी हो। शब्द के अन्दर निहित विभिन्न अर्थ छवियों में से अपने अनुभूत भाव के अनुकूल अर्थ निकालने में सफलता प्राप्त

कर ले। साथ ही संदार्भानुकुल शब्द चयन काव्य की सर्जन-क्षमता को काफी प्रभावित करता है। किसी शब्द का एक निश्चित अर्थ नहीं होता , बल्कि वह अनेक संभाव्य अर्थ एवं अर्थ छवियों का समूह होता है। सच्ची सृजनात्मकता के मायने तब समझ में आते हैं जब कोई कवि विभिन्न ध्वनियों के समूह और उनके अनेक संभाव्य अर्थ बलयों में से किसी विशेष वलय के रंग को प्रभावशाली एवं व्यंजन-क्षम बनाकर प्रस्तुत कर दे। हिंदी के प्रमुख आलोचक नामवर सिंह ने इस कविता प्रवृत्ति को एक प्रकार के रोमांटिक नवोत्थान की संज्ञा दी है, वहीं मुक्तिबोध उसमें एक 'क्लासिकी' रुझान देखना चाहते थे।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कवि के मानस-जगत में उत्थित भाव और विचारों की इन्द्रियानुभूति विंबों में सफल अभिव्यक्ति ही समकालीन काव्य की सच्ची सृजनात्मकता है। समकालीन कवि को समकालीन बने रहने के लिए अपने सूक्ष्म भाव को व्यक्त करने हेतु इन्द्रिय ग्राह्य शब्दों का बड़ा ही सटीक प्रयोग करना होता है, क्योंकि उसके एक-एक शब्द पूरे प्रकरण में इस प्रकार फिट रहते हैं कि उनके संधान पर कोई अन्य पर्यायवाची शब्द रखने से पूरी की पूरी भाव शृंखला भरभरा जाती है। निष्कर्ष में यही कहा जा सकता है कि टूटते हुए मिथक और चटकती हुई आस्थाओं के बीच कविता कथ्य-शिल्प और भाव तीनों ही दृष्टिकोण से श्रेष्ठता कि परिधि में आ जाए तभी समकालीन काव्य की सार्थकता है, अन्यथा नहीं। शब्दों की उपयुक्तता को ही ध्यान में रखकर पाश्चात्य विचारक कालरिज ने समकालीन कविता को "श्रेष्ठतम शब्दों का श्रेष्ठतम क्रम" कहा है।

9

समकालीन-कवि

गजानन माधव मुक्तिबोध हिन्दी साहित्य के प्रमुख कवि, आलोचक, निबंधकार, कहानीकार तथा उपन्यासकार थे। उन्हें प्रगतिशील कविता और नयी कविता के बीच का एक सेतु भी माना जाता है।

जीवन परिचय

मुक्तिबोध के पूर्वज महाराष्ट्र के जलगाँव (खानदेश) के निवासी थे। उनके परदादा वासुदेवजी उन्नीसवीं सदी के आरंभ में महाराष्ट्र छोड़कर ग्वालियर (मध्यप्रदेश) के मुरैना जिला में पड़ने वाले 'श्योपुर नामक कस्बे में आ बसे थे। वासुदेव के पुत्र गोपालराव वासुदेव ग्वालियर राज्य के टोंक (राजस्थान) जिला में कार्यालय अधीक्षक थे। उन्हें फारसी की अच्छी जानकारी थी, इस कारण लोग उन्हें 'मुंशी' कहकर भी बुलाते थे। उनकी नौकरी जिस गाँव में होती, वे महीना दो महीना वहाँ रह आते और मेवा-मिठाई से अपना सत्कार कराए बिना प्रसन्न न होते थे। गोपालराव के इकलौते पुत्र थे- माधवराव मुक्तिबोध। माधवरावजी केवल मिडिल तक शिक्षित थे, लेकिन पिता की तरह वे भी अच्छी फारसी जानते थे। धर्म और दर्शन में भी उनकी गहरी रुचि थी। वे कोतवाल थे। उज्जैन की सेंट्रल कोतवाली, जिसकी दूसरी मंजिल पर माधवरावजी का आवास था, सर सेठ हुकुमचंद का महल था। वहाँ सुख सुविधा की कोई कमी नहीं थी। माधवरावजी कर्तव्यपरायण और न्यायनिष्ठ व्यक्ति थे। पुलिस विभाग में रहकर

भी उन्होंने हमेशा परले दर्जे की ईमानदारी का ही परिचय दिया। वे महात्मा गाँधी के प्रसंशक थे और लोकमान्य तिलक के पत्र 'केसरी' के ग्राहक थे। वे बहुत अच्छे कथावाचक और दैनिन्दनी लेखक भी थे। उनका निधन मुक्तिबोध की मृत्यु के दिन ही हुआ।

माधवराव की पत्नी एवं मुक्तिबोध की माँ पार्वतीबाई ईसागढ़ (बुंदेलखंड, शिवपुरी) के एक समृद्ध किसान-परिवार की थीं। वे छठी कक्षा तक शिक्षित थीं। वे भावुक और स्वाभिमानी थीं। हिंदी के प्रेमचंद और मराठी के हरिनारायण आप्टे उनके प्रिय लेखक थे। मुक्तिबोध के निधन के कुछ ही समय बाद इनका भी देहाँत हो गया था।

आरंभिक जीवन

मुक्तिबोध का जन्म 13 नवम्बर, 1917 को रात 2 बजे श्योपुर में माधवराव-पार्वती दंपत्ति के घर हुआ। शिशु का पूरा नाम रखा गया- गजानन माधव मुक्तिबोध। वे माता-पिता की तीसरी संतान थे। उनसे पहले के दोनों सिशु अधिक जीवित नहीं रह सके थे। इस कारण मुक्तिबोध के लालन-पालन और देख-भाल पर अधिक ध्यान दिया गया। उन्हें खूब स्नेह और ठाठ मिला। शाम को उन्हें बाबागाड़ी में हवा खिलाने के लिए बाहर ले जाता। सात-आठ की उम्र तक अर्दली ही उन्हें कपड़े पहनाते थे। उनकी सभी जरूरतो का ध्यान रखा जाता रहा, उनकी हर माँग पूरी की जाती रही। उन्हें घर में 'बाबूसाहब' कहकर पुकारा जाता था। वे परीक्षा में सफल होते तो घर में उत्सव मनाया जाता था। इस अतिरिक्त लाड़-प्यार और राजसी ठाट-बाट में पला बालक हठी और जिद्दी हो गया।

शिक्षा

इनके पिता पुलिस विभाग के इंस्पेक्टर थे। अक्सर उनका तबादला होता रहता था। इसीलिए मुक्तिबोध की पढ़ाई में बाधा पड़ती रहती थी। सन् 1930 में मुक्तिबोध ने मिडिल की परीक्षा, उज्जैन से दी और फेल हो गए। कवि ने इस असफलता को अपने जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने 1953 में साहित्य रचना का कार्य प्रारम्भ किया और सन् 1939 में इन्होंने शांता जी से प्रेम विवाह किया। 1942 के आस-पास वे वामपंथी विचारधारा की ओर झुके तथा शुजालपुर में रहते हुए उनकी वामपंथी चेतना मजबूत हुई।

साहित्यिक जीवन

मुक्तिबोध तारसप्तक के पहले कवि थे। मनुष्य की अस्मिता, आत्म-संघर्ष और प्रखर राजनैतिक चेतना से समृद्ध उनकी कविता पहली बार 'तार सप्तक' के माध्यम से सामने आई, लेकिन उनका कोई स्वतंत्र काव्य-संग्रह उनके जीवनकाल में प्रकाशित नहीं हो पाया। मृत्यु के पहले श्रीकांत वर्मा ने उनकी केवल 'एक साहित्यिक की डायरी' प्रकाशित की थी, जिसका दूसरा संस्करण भारतीय ज्ञानपीठ से उनकी मृत्यु के दो महीने बाद प्रकाशित हुआ। ज्ञानपीठ ने ही 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' प्रकाशित किया था। इसी वर्ष नवंबर 1964 में नागपुर के विश्वभारती प्रकाशन ने मुक्तिबोध द्वारा 1963 में ही तैयार कर दिये गये निबंधों के संकलन, नयी कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध' को प्रकाशित किया था। परवर्ती वर्षो में भारतीय ज्ञानपीठ से मुक्तिबोध के अन्य संकलन 'काठ का सपनाश, तथा 'विपात्र' (लघु उपन्यास) प्रकाशित हुए। पहले कविता संकलन के 15 वर्ष बाद, 1980 में उनकी कविताओं का दूसरा संकलन 'भूरी भूर खाक धूल' प्रकाशित हुआ और 1985 में 'राजकमल' से पेपरबैक में छः खंडों में 'मुक्तिबोध रचनावली' प्रकाशित हुई, वह हिंदी के इधर के लेखकों की सबसे तेजी से बिकने वाली रचनावली मानी जाती है। कविता के साथ-साथ, कविता विषयक चिंतन और आलोचना पद्धति को विकसित और समृद्ध करने में भी मुक्तिबोध का योगदान अन्यतम है। उनके चिंतन परक ग्रंथ हैं- एक साहित्यिक की डायरी, नयी कविता का आत्म-संघर्ष और नये साहित्य का सौंदर्य शास्त्र। भारत का इतिहास और संस्कृति इतिहास लिखी गई उनकी पुस्तक है। काठ का सपना तथा सतह से उठता आदमी उनके कहानी संग्रह हैं तथा विपात्र उपन्यास है। उन्होंने 'वसुधा', 'नया खून' आदि पत्रों में संपादन-सहयोग भी किया।

ग्रंथानुक्रमणिका

1. चाँद का मुँह टेढ़ा है - (कविता संग्रह), 1964, भारतीय ज्ञानपीठ.
2. नई कविता का आत्म-संघर्ष तथा अन्य निबंध (निबंध संग्रह), 1964, विश्वभारती प्रकाशन,
3. एक साहित्यिक की डायरी (निबंध संग्रह), 1964, भारतीय ज्ञानपीठ,
4. काठ का सपना (कहानी संग्रह), 1967, भारतीय ज्ञानपीठ,
5. विपात्र (उपन्यास), 1970, भारतीय ज्ञानपीठ,

6. नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, 1971, राधाकृष्ण प्रकाशन,
7. सतह से उठता आदमी (कहानी संग्रह), 1971, भारतीय ज्ञानपीठ,
8. कामायनीरू एक पुनर्विचार, 1973, साहित्य भारती,
9. भूरी-भूरी खाक धूल - (कविता संग्रह), 1980, नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन,
10. मुक्तिबोध रचनावली, नेमिचंद्र जैन द्वारा संपादित, (6 खंड), 1980, राजकमल प्रकाशन,
11. समीक्षा की समस्याएं, 1982, राजकमल प्रकाशन,

प्रमुख कहानियां

1. 'अँधेरे में'
2. काठ का सपना,
3. क्लॉड ईथरली,
4. जंक्शन,
5. पक्षी और दीमक,
6. प्रश्न,
7. ब्रह्मराक्षस का शिष्य,
8. सौन्दर्य के उपासक,

विविध कविताएँ

1. **मेरे जीवन की**

मेरे जीवन की धर्म तुम्हीं--
यद्यपि पालन में रही चूक
हे मर्म-स्पर्शिनी आत्मीये!
मैदान-धूप में-
अन्यमनस्का एक और
सिमटी छाया-सा उदासीन
रहता-सा दिखता हूँ यद्यपि खोया-खोया
निज में डूबा-सा भूला-सा
लेकिन मैं रहा घूमता भी
कर अपने अन्तर में धारण

प्रज्ज्वलित ज्ञान का विक्षोभी
व्यापक दिन आग बबूला-सा
मैं यद्यपि भूला-भूला सा
ज्यों बातचीत के शब्द-शोर में एक वाक्य
अनबोला-सा!
मेरे जीवन की तुम्हीं धर्म
(मैं सच कह दूँ--
यद्यपि पालन में चूक रही)
नाराज न हो सम्पन्न करो
यह अग्नि-विधायक प्राण-कर्म
हे मर्म-स्पर्शिनी सहचारिणि!
था यद्यपि भूला-भूला सा
पर एक केन्द्र की तेजस्वी अन्वेष-लक्ष्य
आँखों से उर में लाखों को
अंकित करता तौलता रहा
मापता रहा
आधुनिक हँसी के सभ्य चाँद का श्वेत वक्ष
खोजता रहा उस एक विश्व
के सारे पर्वत-गुहा-गर्त
मैंने प्रकाश-चादर की मापी उस पर पीली गिरी पर्त
उस एक केन्द्र की आँखों से देखे मैंने
एक से दूसरे में घुसकर
आधुनिक भवन के सभी कक्ष
उस एक केन्द्र के ही सम्मुख
मैं हूँ विनम्र-अन्तर नत-मुख
ज्यों लक्ष्य फूल-पत्तों वाली वृक्ष की शाख
आज भी तुम्हारे वातायान में रही झाँक
सुख फैली मीठी छायाओं के सौ सुख!
मेरे जीवन का तुम्ही धर्म
यद्यपि पालन में रही चूक
हे मर्म-स्पर्शिनी आत्मीये!

सच है कि तुम्हारे छोह भरी
व्यक्तित्त्वमयी गहरी छाँहों से बहुत दूर
मैं रहा विदेशों में खोया पथ-भूला सा
अन-खोला ही
वक्ष पर रहा लौह-कवच
बाहर के ह्रास मनोमय लोभों लाभों से
हिय रहा अनाहत स्पन्दन सच,
ये प्राण रहे दुर्भेद्य अथक
आधुनिक मोह के अमित रूप अमिताभों से।

2. जब दुपहरी जिन्दगी पर

जब दुपहरी जिन्दगी पर रोज सूरज
एक जॉबर-सा
बराबर रौब अपना गाँठता-सा है
कि रोजी छूटने का डर हमें
फटकारता-सा काम दिन का बाँटता-सा है
अचानक ही हमें बेखौफ करती तब
हमारी भूख की मुस्तैद आँखें ही
थका-सा दिल बहादुर रहनुमाई
पास पा के भी
बुझा-सा ही रहा इस जिन्दगी के कारखाने में
उभरता भी रहा पर बैठता भी तो रहा
बेरुह इस काले जमाने में
जब दुपहरी जिन्दगी को रोज सूरज
जिन्न-सा पीछे पड़ा
रोज की इस राह पर
यों सुबह-शाम खयाल आते हैं...
आगाह करते से हमें।.. ?
या बेराह करते से हमें ?
यह सुबह की धूल सुबह के इरादों-सी
सुनहली होकर हवा में खवाब लहराती
सिफत-से जिन्दगी में नई इज्जत, आब लहराती

दिलों के गुम्बजों में
बन्द बासी हवाओं के बादलों को दूर करती-सी
सुबह की राह के केसरिया
गली का मुँह अचानक चूमती-सी है
कि पैरों में हमारे नई मस्ती झूमती-सी है
सुबह की राह पर हम सीखचों को भूल इठलाते
चले जाते मिलों में मदरसों में
फतह पाने के लिए
क्या फतह के ये खयाल खयाल हैं
क्या सिर्फ धोखा है ?...
सवाल है।
(संभावित रचनाकाल 1948-50, अप्रकाशित)

3. कल और आज

अभी कल तक गालियाँ
देते थे तुम्हें
हताश खेतिहर,
अभी कल तक
धूल में नहाते थे
गौरैयों के झुंड,
अभी कल तक
पथराई हुई थी
धनहर खेतों की माटी,
अभी कल तक
दुबके पड़े थे मेंढक,
उदास बदतंग था आसमान !
और आज
ऊपर ही ऊपर तन गये हैं
तुम्हारे तंबू,
और आज
छमका रही है पावस रानी
बूंदा बूंदियों की अपनी पायल,

और आज
चालू हो गई है
झींगुरों की शहनाई अविराम,
और आज
जोर से कूक पड़े
नाचते थिरकते मोर,
और आज
आ गई वापस जान
दूब की झुलसी शिराओं के अंदर,
और आज
विदा हुआ चुपचाप ग्रीष्म
समेट कर अपने लाव-लश्कर ।

4. चाहिए मुझे मेरा असंग बबूलपन

मुझे नहीं मालूम
मेरी प्रतिक्रियाएँ
सही हैं या गलत हैं या और कुछ
सच, हूँ मात्र मैं निवेदन-सौन्दर्य
सुबह से शाम तक
मन में ही
आड़ी-टेढ़ी लकीरों से करता हूँ
अपनी ही काटपीट
गलत के खिलाफ नित सही की तलाश में कि
इतना उलझ जाता हूँ कि
जहर नहीं
लिखने की स्याही में, पीता हूँ कि
नीला मुँह...
दायित्व-भावों की तुलना में
अपना ही व्यक्ति जब देखता
तो पाता हूँ कि
खुद नहीं मालूम
सही हूँ या गलत हूँ

या और कुछ
सत्य हूँ कि सिर्फ मैं कहने की तारीफ
मनोहर केन्द्र में
खूबसूरत मजेदार
बिजली के खम्भे पर
अँगड़ाई लेते हुए मेहराबदार चार
तड़ित-प्रकाश-दीप...
खम्भे के अलंकार!!
सत्य मेरा अलंकार यदि, हाय
तो फिर मैं बुरा हूँ,
निजत्व तुम्हारा, प्राण-स्वप्न तुम्हारा और
व्यक्तित्त्व तड़ित्-अग्नि-भारवाही तार-तार
बिजली के खम्भे की भांति ही
कन्धों पर रख मैं
विभिन्न तुम्हारे मुख-भाव कान्ति-रश्मि-दीप
निज के हृदय-प्राण
वक्ष से प्रकट, आविर्भूत, अभिव्यक्त
यदि करता हूँ तो....
दोष तुम्हारा है
मैंने नहीं कहा था कि
मेरी इस जिन्दगी के बन्द किवार की
दरार से
रश्मि-सी घुसो और विभिन्न दीवारों पर लगे हुए शीशों पर
प्रत्यावर्तित होती रहो
मनोज्ञ रश्मि की लीला बन
होती हो प्रत्यावर्तित विभिन्न कोणों से
विभिन्न शीशों पर
आकाशीय मार्ग से रश्मि-प्रवाहों के
कमरे के सूने में सांवले
निज-चेतस् आलोक

सत्य है कि
बहुत भव्य रम्य विशाल मृदु
कोई चीज
कभी-कभी सिकुड़ती है इतनी कि
तुच्छ और क्षुद्र ही लगती है!!
मेरे भीतर आलोचनाशील आँख
बुद्धि की सचाई से
कल्पनाशील दृग फोड़ती!!
संवेदनशील मैं कि चिन्ताग्रस्त
कभी बहुत क्रुद्ध हो
सोचता हूँ
मैंने नहीं कहा था कि तुम मुझे
अपना सम्बल बना लो
मुझे नहीं चाहिए निज वक्ष कोई मुख
किसी पुष्पलता के विकास-प्रसार-हित
जाली नहीं बनूंगा मैं बांस की
चाहिए मुझे मैं
चाहिए मुझे मेरा खोया हुए
रूखा सूखा व्यक्तित्त्व
चाहिए मुझे मेरा पाषाण
चाहिए मुझे मेरा असंग बबूलपन
कौन हो की कही की अजीब तुम
बीसवीं सदी की एक
नालायक ट्रैजेडी
जमाने की दुखान्त मूर्खता
फैन्टेसी मनोहर
बुदबुदाता हुआ आत्म संवाद
होठों का बेवकूफ कथ्य और
फफक-फफक ढुला अश्रुजल
अरी तुम षड्यन्त्र-व्यूह-जाल-फंसी हुई
अजान सब पैंतरों से बातों से
भोले विश्वास की सहजता

स्वाभाविक सौंप
यह प्राकृतिक हृदय-दान
बेसिकली गलत तुम।

5. विचार आते हैं

विचार आते हैं
लिखते समय नहीं
बोझ ढोते वक्त पीठ पर
सिर पर उठाते समय भार
परिश्रम करते समय
चांद उगता है व
पानी में झलमलाने लगता है
हृदय के पानी में
विचार आते हैं
लिखते समय नहीं
...पत्थर ढोते वक्त
पीठ पर उठाते वक्त बोझ
साँप मारते समय पिछवाड़े
बच्चों की नेकर फचीटते वक्त
पत्थर पहाड़ बन जाते हैं
नक्शे बनते हैं भौगोलिक
पीठ कच्छप बन जाती है
समय पृथ्वी बन जाता है।..

6. रात, चलते हैं अकेले ही सितारे

रात, चलते हैं अकेले ही सितारे।
एक निर्जन रिक्त नाले के पास
मैंने एक स्थल को खोद
मिट्टी के हरे ढेले निकाले दूर
खोदा और
खोदा और
दोनों हाथ चलते जा रहे थे शक्ति से भरपूर।
सुनाई दे रहे थे स्वर –
घृणित रात्रिचरों के क्रूर।

काले-से सुरों में बोलता, सुनसान था मैदान।
जलती थी हमारी लालटैन उदास,
एक निर्जन रिक्त नाले के पास।
खुद चुका बिस्तर बहुत गहरा
न देखा खोलकर चेहरा
कि जो अपने हृदय-सा
प्यार का टुकड़ा
हमारी जिंदगी का एक टुकड़ा,
प्राण का परिचय,
हमारी आँख-सा अपना
वही चेहरा जरा सिकुड़ा
पड़ा था पीत,
अपनी मृत्यु में अविभीत।
वह निर्जीव,
पर उस पर हमारे प्राण का अधिकारय
यहाँ भी मोह है अनिवार,
यहाँ भी स्नेह का अधिकार।
बिस्तर खूब गहरा खोद,
अपनी गोद से,
रक्खा उसे नरम धरती-गोद।
फिर मिट्टी,
कि फिर मिट्टी,
रखे फिर एक-दो पत्थर
उढ़ा दी मृत्तिका की साँवली चादर
हम चल पड़े
लेकिन बहुत ही फिक्र से फिरकर,
कि पीछे देखकर
मन कर लिया था शांत।
अपना धैर्य पृथ्वी के हृदय में रख दिया था।
धैर्य पृथ्वी का हृदय में रख लिया था।
उतनी भूमि है चिरंतन अधिकार मेरा,
जिसकी गोद में मैंने सुलाया प्यार मेरा।

आगे लालटैन उदास,
पीछे, दो हमारे पास साथी।
केवल पैर की ध्वनि के सहारे
राह चलती जा रही थी।

7. बेचैन चील

बेचैन चील!!
उस जैसा मैं पर्यटनशील
प्यासा-प्यासा,
देखता रहूँगा एक दमकती हुई झील
या पानी का कोरा झाँसा
जिसकी सफेद चिलचिलाहटों में है अजीब
इनकार एक सूना!!

8. बहुत दिनों से

मैं बहुत दिनों से बहुत दिनों से
बहुत-बहुत सी बातें तुमसे चाह रहा था कहना
और कि साथ यों साथ-साथ
फिर बहना बहना बहना
मेघों की आवाजों से
कुहरे की भाषाओं से
रंगों के उद्‌भासों से ज्यों नभ का कोना-कोना
है बोल रहा धरती से
जी खोल रहा धरती से
त्यों चाह रहा कहना
उपमा संकेतों से
रूपक से, मौन प्रतीकों से
मैं बहुत दिनों से बहुत-बहुत-सी बातें
तुमसे चाह रहा था कहना!
जैसे मैदानों को आसमान,
कुहरे की मेघों की भाषा त्याग
बिचारा आसमान कुछ
रूप बदलकर रंग बदलकर कहे।

9. मैं बना उन्माद री सखि

मैं बना उन्माद री सखि, तू तरल अवसाद
प्रेम - पारावार पीड़ा, तू सुनहली याद
तैल तू तो दीप मैं हूँ, सजग मेरे प्राण।
रजनि में जीवन-चिता औ' प्रात में निर्वाण
शुष्क तिनका तू बनी तो पास ही मैं धूल
आम्र में यदि कोकिला तो पास ही मैं हूल
फल-सा यदि मैं बनूं तो शूल-सी तू पास
विँधुर जीवन के शयन को तू मधुर आवास
सजल मेरे प्राण है री, सजग मेरे प्राण
तू बनी प्राण! मैं तो आलि चिर-म्रियमाण।
सुदामा पांडेय 'धूमिल'

सुदामा पाण्डेय धूमिल हिंदी की समकालीन कविता के दौर के मील के पत्थर सरीखे कवियों में एक है। उनकी कविताओं में आजादी के सपनों के मोहभंग की पीड़ा और आक्रोश की सबसे सशक्त अभिव्यक्ति मिलती है। व्यवस्था जिसने जनता को छला है, उसको आइना दिखाना मानों धूमिल की कविताओं का परम लक्ष्य है।

जीवन परिचय

धूमिल का जन्म वाराणसी के पास खेवली गांव में हुआ था। उनका मूल नाम सुदामा पांडेय था। धूमिल नाम से वे जीवन भर कवितायें लिखते रहे। सन् 1958 में आई टी आई (वाराणसी) से विद्युत डिप्लोमा लेकर वे वहीं विद्युत अनुदेशक बन गये। 38 वर्ष की अल्पायु में ही ब्रेन ट्यूमर से उनकी मृत्यु हो गई।

रचनात्मक विशेषताएं

सन 1960 के बाद की हिंदी कविता में जिस मोहभंग की शुरूआत हुई थी, धूमिल उसकी अभिव्यक्ति करने वाले अंत्यतं प्रभावशाली कवि हैं। उनकी कविता में परंपरा, सभ्यता, सुरुचि, शालीनता और भद्रता का विरोध है, क्योंकि इन सबकी आड़ में जो हृदय पलता है, उसे धूमिल पहचानते हैं। कवि धूमिल यह भी जानते हैं कि व्यवस्था अपनी रक्षा के लिये इन सबका उपयोग करती

है, इसलिये वे इन सबका विरोध करते हैं। इस विरोध के कारण उनकी कविता में एक प्रकार की आक्रामकता मिलती है। किंतु उससे उनकी कविता की प्रभावशीलता बढ़ती है। धूमिल अकविता आन्दोलन के प्रमुख कवियों में से एक हैं। धूमिल अपनी कविता के माध्यम से एक ऐसी काव्य भाषा विकसित करते हैं जो नई कविता के दौर की काव्य-भाषा की रूमानियत, अतिशय कल्पनाशीलता और जटिल बिंबधर्मिता से मुक्त है। उनकी भाषा काव्य-सत्य को जीवन सत्य के अधिकाधिक निकट लाती है।

रचनाएं

धूमिल के तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हैं-

संसद से सड़क तक,

कल सुनना मुझे,

सुदामा पांडे का प्रजातंत्र।

मरणोपरांत 1979 में उन्हें 'कल सुनना मुझे' काव्य संग्रह के लिए साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया।

धूमिल की कुछ सबसे लोकप्रिय कविताएँ हैं- मोचीराम, बीस साल बाद, पटकथा, रोटी और संसद, लोहे का स्वाद आदि।

केदारनाथ सिंह

केदारनाथ सिंह, हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि व साहित्यकार थे। वे अज्ञेय द्वारा सम्पादित तीसरा सप्तक के कवि रहे। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा उन्हें वर्ष 2013 का 49वां ज्ञानपीठ पुरस्कार प्रदान किया गया था। वे यह पुरस्कार पाने वाले हिन्दी के 10वें लेखक थे।

जीवन परिचय

केदारनाथ सिंह का जन्म 7 जुलाई 1934 ई. को उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के चकिया गाँव में हुआ था। उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1956 ई. में हिन्दी में एम,एच और 1964 में पी-एच, डी. की उपाधि प्राप्त की। उनका निधन 19 मार्च 2018 को दिल्ली में उपचार के दौरान हुआ। कुछ वक्त गोरखपुर में हिंदी के प्रध्यापक रहे। उन्होंने जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा केंद्र में बतौर आचार्य और अध्यक्ष काम किया था।

योगदान

केदारनाथ सिंह की प्रमुख काव्य कृतियां 'जमीन पक रही है', 'यहाँ से देखो', 'उत्तर कबीर', 'टालस्टॉय और साइकिल' और 'बाघ' हैं। उनकी प्रमुख गद्य कृतियां 'कल्पना और छायावाद', 'आधुनिक हिंदी कविता में बिंबविधान' और 'मेरे समय के शब्द' हैं।

मुख्य कृतियाँ

कविता संग्रह

अभी बिल्कुल अभी (1960),
जमीन पक रही है (1980),
यहाँ से देखो (1983),
बाघ (1996),(पुस्तक के रूप में),
अकाल में सारस (1988),
उत्तर कबीर और अन्य कविताएँ (1995),
तालस्ताय और साइकिल (2005),
सृष्टि पर पहरा (2014),

आलोचना

कल्पना और छायावाद,
आधुनिक हिंदी कविता में बिंबविधान,
मेरे समय के शब्द,
मेरे साक्षात्कार ,

संपादन

ताना-बाना (आधुनिक भारतीय कविता से एक चयन),
समकालीन रूसी कविताएँ ,
कविता दशक ,
साखी (अनियतकालिक पत्रिका),
शब्द (अनियतकालिक पत्रिका),

10

श्रीकांत वर्मा

श्रीकांत वर्मा का जन्म बिलासपुर छत्तीसगढ़ में हुआ। वह गीतकार, कथाकार तथा समीक्षक के रूप में जाने जाते हैं। राजनीति से भी जुड़े थे तथा राज्यसभा के सदस्य रहे। 1957 में प्रकाशित 'भटका मेघ', 1967 में प्रकाशित 'मायादर्पण' और 'दिनारम्भ', 1973 में प्रकाशित 'जलसाघर' और 1984 में प्रकाशित 'मगध' इनकी काव्य-कृतियाँ हैं। 'मगध' काव्य संग्रह के लिए 'साहित्य अकादमी पुरस्कार' से सम्मानित हुये। 'झाड़ी' तथा 'संवाद' इनके कहानी-संग्रह है। 'अपोलो का रथ' यात्रा वृत्तान्त है। 'बीसवीं शताब्दी के अंधेरे में' साक्षात्कार ग्रंथ है।

उनकी प्रारंभिक शिक्षा बिलासपुर तथा रायपुर में हुई। नागपुर विश्वविद्यालय से 1956 में उन्होंने हिन्दी साहित्य में स्नातकोत्तर उपाधि प्राप्त की। इसके बाद वह दिल्ली चले गये और वहाँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लगभग एक दशक तक पत्रकार के रूप में कार्य किया। 1966 से 1977 तक दिनमान के विशेष संवाददाता रहे। 1976 में काँग्रेस के टिकट पर चुनाव जीतकर राज्य सभा के सदस्य बने। सत्तर के दशक के उत्तरार्द्ध से अस्सी के दशक के पूर्वार्द्ध तक पार्टी के प्रवक्ता के रूप में कार्य करते रहे। 1980 में इंदिरा गांधी के राष्ट्रीय चुनाव अभियान के प्रमुख प्रबंधक रहे और 1984 में राजीव गांधी के परामर्शदाता तथा राजनीतिक विश्लेषक के रूप में कार्य करते रहे। कांग्रेस को अपना 'गरीबी हटाओ' का अमर नारा दिया। वह पचास के दशक में उभरने वाले नई कविता आंदोलन के प्रमुख कवियों में से थे।

1970–71 और 1978 में आयोवा विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित 'अन्तरराष्ट्रीय लेखन कार्यक्रम' में 'विजिटिंग पोएट' के रूप में आमंत्रित।

प्रमुख रचनाएँ

काव्य

भटका मेघ, माया दर्पण, दिनारम्भ, जलसाघर, मगध, गरुड़ किसने देखा है

कहानी संग्रह

झाड़ी, संवाद, घर, ठंड, बास, साथ।

उपन्यास

दूसरी बार, अश्वत्थ, ब्यूक।

आलोचना

जिरह।

यात्रा वृत्तान्त

अपोलो का रथ।

साक्षात्कार

बीसवीं शताब्दी के अंधेरे मे।

कविता संकलन का कार्य

मुक्तिबोध के काव्य संग्रह 'चाँद का मुँह टेढ़ा है' की कविताओं का संकलन।

श्रीकांत वर्मा को 1973 में मध्यप्रदेश सरकार का 'तुलसी सम्मान', 1984 में 'आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी पुरस्कार', 1981 में 'शिखर सम्मान', 1984 में कविता और राष्ट्रीय एकता के लिए केरल सरकार का 'कुमार आशान' राष्ट्रीय पुरस्कार, 1987 में 'मगध,नामक कविता संग्रह के लिये मरणोपरांत साहित्य अकादमी पुरस्कार प्रदान किए गए।